# महाभाव-दिनमणि श्रीराधाबाबा

(द्वितीय एवं तृतीय खण्ड)

पृष्ठ संख्या
401-540
तक

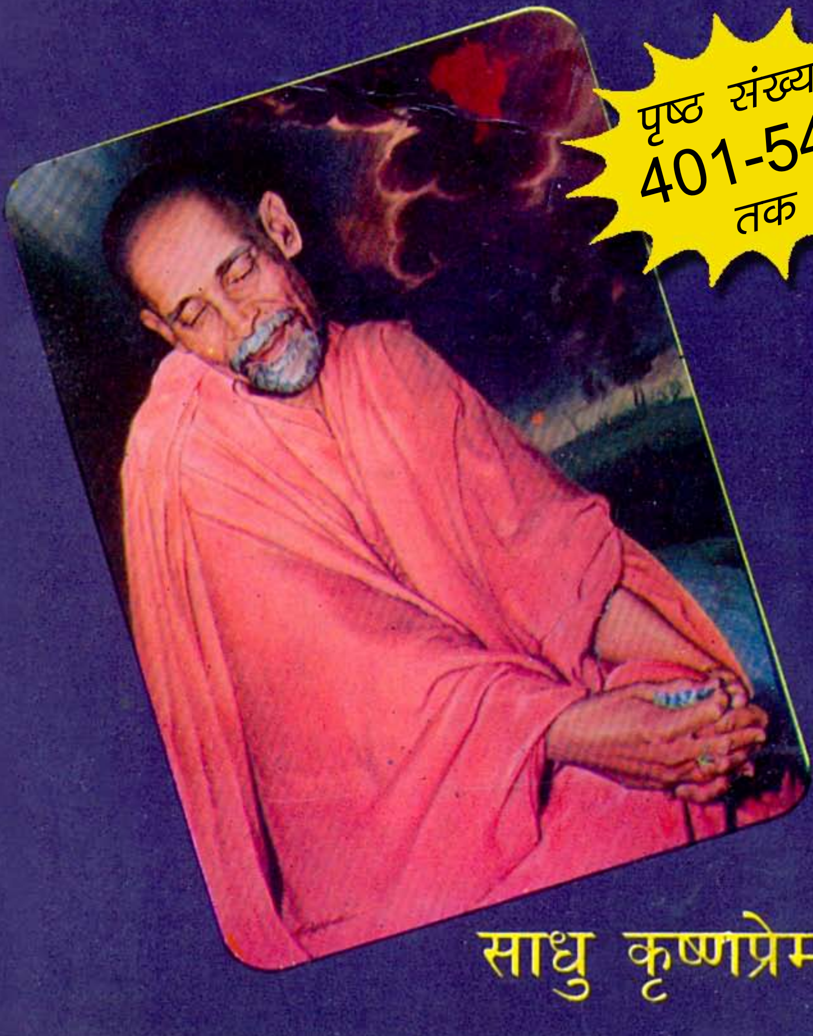

साधु कृष्णप्रेम

"प्रियतम" – मैं उनके कण्ठसे लगी विह्वल हो जाती हूँ। "प्राणवल्लभे ! आज तुम्हारा जन्मदिन है। मेरा सर्वस्व तुमपर न्यौछावर है।" वे प्यारसे गद्‌गद हो उठते हैं। अपने कण्ठका मणिहार भी वे मेरे कण्ठमें डाल देते हैं। मेरे नेत्र उनका अतिशय प्यार देखकर बरस पड़ते हैं। वे मेरे आननको अपनी दोनों हथेलियोंसे दबाकर कहते हैं – "आजके दिवस अश्रु नहीं ढुलकाते, तनिक मुसकाओ।" उनकी उक्तिपर मैं मुसकानेकी चेष्टा करती हूँ, किन्तु उनका निश्छल असीम प्यार मुझे अश्रुासिक्त कर ही देता है। मैं उनके नीलकान्त-मणि-सम दमकते वक्षस्थलसे सट जाती हूँ।

ऐसा लगता है, मेरी चिति जैसे उनसे एकाकार हो रही है – मानों वे ही मेरी मूर्तिमान आत्मीयता हैं। वे मुझसे सटे-सटे ही चन्द्रमाकी ओर देखते हैं। ऐसा अनुभव होता है, मानो राका-विधु खिल-खिलाकर मुसका उठा है। चाँदनी भी जैसे उद्दीपित हो उठी हो, वह अपनी दूधिया सुधासे हम दोनोंको नहला दे रही है। वे मुझे चन्द्रमा दिखाते हुए कहते हैं – "प्रिये ! चन्द्रमा कितना सुन्दर है ?" मैं उनकी ओर ही एकटक देखती रहती हूँ और मुसका देती हूँ। वे पुनः जिज्ञासा करते हैं, तो उनके गलेसे गुँथी उत्तर देती हूँ – "प्रियतम ! प्रीति ही परम सुन्दर है।"

राधा राधा राधा राधा

---

प्रसंग - दस (१०)

# तुम इतने सुन्दर क्यों हो ?

रतनगढ़,
तिथि, संवत् कुछ नहीं

भाईजी !

रात्रिके बारह बज रहे हैं। आज़का जप, पाठ कुछ भी पूरा नहीं हो रहा। जैसे ही 'राधाकृष्ण, राधाकृष्ण, कृष्ण-कृष्ण, राधा-राधा' जपनेको मुख खोलता हूँ,नेत्रोंके सामने विलक्षण दृश्यावलियाँ एवं भावोंकी आँधी आनी प्रारंभ हो जाती है। अपनेको हजार चेष्टा करनेपर भी रोक नहीं पाता। एक-दो दृश्य लिखकर भेज रहा हूँ। चेष्टा करनेपर भी शब्दोंके द्वारा अनुभूतिका चित्र सही नहीं उतर पाता। शब्द उसकी पवित्रता, उसकी सुन्दरता, उसका शील व्यक्त ही नहीं कर पाते, क्या करूँ ?

यमुना-पुलिनपर वे खड़े हैं, कितनी पवित्र उनकी छबि है ? ऐसा ठीक अनुभव हो रहा है, उनके अस्तित्वको अपने ऊपर धारण करनेसे पृथ्वी, वायु, यमुना, वन, वृक्ष और कुञ्ज सभी पवित्रको भी पवित्र करनेवाले बन रहे हैं। उनके अंगों-अंगोंसे एक परम निर्मल श्याम तेज झर रहा है; सब शोभा, पवित्रता, सौन्दर्य, माधुर्यकी खान मानो वे ही हैं।

वे मेरे अति निकट आकर आसीन हो जाते हैं। मैं उनकी सुन्दरतासे अभिभूत मुसकाती हुई, उनकी ओर देखती रहती हूँ और तब उनसे प्रश्न कर बैठती हूँ – "प्रियतम ! तुम इतने सुन्दर क्यों हो ?" वे मेरी जिज्ञासाका कुछ भी उत्तर नहीं देते। मैं पुनः जिज्ञासासे उनकी ओर देखती हूँ। वे मेरे कपोलोंपर बिखरी लटें निवृत्त करते हैं और अति ललचायेसे, मेरे आननको निहारते हैं। जब मैं पुनः यही प्रश्न करती हूँ – तो वे बोल उठते हैं -

"प्रिये ! देखो ! आकाशमें चन्द्रमा अपनी निर्मल दूधिया चाँदनीसे सम्पूर्ण वनको नहला रहा है; चन्द्रिकाकी किरणें, चाहे वे अधखिली कलियोंको निरवगुंठित कर रही हों, चाहे यमुनाकी लोल लहरियोंमें सुधा घोल रही हों, सब चन्द्रमाकी सुन्दरताका अणुमात्र लेकर ही क्रियाशील हो रही हैं। इसी प्रकार इस विश्वमें जो कुछ सुन्दरता, मधुरता, प्रीति, अमृत है – सबकी एकमात्र उत्स तुम्हारी प्रीति है, प्रिये ! तुम्हारे रससे सब वृक्षोंके फल मधुर हैं; तुम्हारी सुगन्ध लेकर सब पुष्प मह-मह महक रहे हैं। तुम्हारी शीतलतासे यमुनाकी चंचल ऊर्मियाँ

स्निग्ध हैं। तुम्हारे सौन्दर्यको ग्रहणकर वन मुखरित हो रहा है। तुम्हारी मधुर वाणीको ही कोकिला कुहू-कुहूकर अभिव्यक्त करनेकी चेष्टा कर रही है। तुम्हारी अनन्ततासे आकाश विस्तृत है। तुम्हारा प्यार ही सम्पूर्ण विश्वमें आत्मीयताका प्रकाश कर रहा है। उसी प्रकार तुम्हारी नेत्रोंमें बसी प्रीति-लक्ष्मी ही मुझे सुन्दर बना रही है।"

वे कहते जा रहे थे और उनका वक्तव्य मैं मुसकाती, उन्हें अति नेहसे निहारती हुई सुन रही थी। जब उनका कथन विरमित हुआ, तो मैंने बस एक वाक्य ही कहा – "प्राणनाथ ! तुम इतना तो स्वीकार करोगे ही कि ऐसी प्रेममयी मैं, मात्र तुम्हारे चरण-रजकी तुच्छातितुच्छ किंकरी हूँ।"

वे मुझसे लिपट जाते हैं और मैं उनमें गुँथ जाती हूँ । और ऐसा प्रतीत होता है मानों मेरा कोई पृथक् अस्तित्व ही नहीं रहा। वे ही वे रह जाते हैं। वे कृष्ण हैं और मैं उनकी आधार कृष्णा। जिसके अणु-अणुमें कृष्ण हों, जिसमें सर्वत्र कृष्ण-ही-कृष्ण समाये हों, कृष्णसे भिन्न जिसमें कहीं कुछ भी पृथक् सत्ता शेष नहीं रही हो, वही तो कृष्णा है। वे श्याम हैं, मैं श्यामा हूँ। मैं वनमाला हूँ, वे वनमाली; मैं भोग्या हूँ, वे भोक्ता। मैं मन हूँ और वे मन्ता; मैं प्रज्ञान हूँ, वे प्रज्ञाता। मैं सत्य हूँ, वे सत्ता। मैं 'मैं' हूँ और वे मेरे हैं। मैं आत्मा हूँ, वे आत्मीयता।

भाईजी ! यह शब्दजाल नहीं है। मेरी उनसे उस समय ऐसी ही प्रगाढ़ एकात्मता अनुभूत होती है। यही तो प्रीति है। यदि पृथकता ही हो, तो फिर वे मेरे कैसे, मैं उनकी कैसे ? भाईजी ! मेरे मनमें जैसे यह संकल्प आता है कि 'मैं उनकी' उसी समय ऐसा अनुभव होता है, मेरे श्वास-श्वासपर मेरे सम्पूर्ण तन, मन, इन्द्रियोंपर उनका पूर्णतया अधिकार हो गया है। मेरा समग्र निजस्व ही श्रीकृष्णका हो जाता है और जो कुछ भी, कोई भी जो मेरा है, सब उनका हो जाता है। मैं पुनः, पुनः जप करती हूँ – "मेरे जीवन-सर्वस्व ! मैं सब प्रकार से तुम्हारी हूँ" – मेरा यह वाक्य समाप्त ही नहीं हो पाता कि उनकी प्रीति इतनी उमड़ती है कि उनका ममत्व मेरे समग्र मनको आत्मसात् कर लेता है। मेरा मन वे-ही-वे हो जाते हैं। मेरा सर्वस्व उन महाप्रेमसमुद्रमें डूब जाता है।

भाईजी ! "मैं उनकी हूँ और वे मेरे हैं" – यही परम सत्य है, यही परम तत्व है। वे मेरे हैं – यही समग्र परमार्थका अन्त है। 'वे मेरे हैं' यही सार-की-सार बात है। वे मुझमें ही निवास करते हैं। मैं ही उनका गोकुल, नन्दग्राम, गोलोक हूँ। मुझमें ही वे प्रकट होते हैं, स्थिर रहते हैं और विलय हो जाते हैं। वे मेरे हैं, सर्वांगतः मेरे हैं, एकमात्र मेरे हैं, समग्र मेरे हैं, मुझसे कहीं, कभी, कुछभी

अतिरिक्त नहीं। अनादिकालसे यही सत्य था, उनका मेरा ऐसा ही प्यार सर्वकालसे था, है एवं रहेगा, परन्तु मैं ही अज्ञानी थी, अंधी थी, अबूझ थी, अपरिचित थी। अनादिकालसे वे मुझपर न्यौछावर होते रहते थे, परन्तु फिर भी मैं अपनेको परायी, एकाकिनी, उनसे विरहित अनुभव कर रही थी। अनादिकालसे उनका समग्र मात्र मेरा निजस्व था, परन्तु फिर भी मैं कंगालिनी ही अपनेको अनुभव कर विलख रही थी।

उनका प्यार असीम था, है, एवं रहेगा। बलिहारी है उस बुद्धिकी जो उनकी प्रीतिसे फिर भी अनजानी अछूत है।

राधा राधा राधा राधा

प्रसंग-ग्यारह (११)

# क्या तुम मुझे अप्राप्त हो ?

रतनगढ़
दिनांक : अज्ञात

मयूर कुटी है। मैंने उनकी स्मृतिमें अपनी कुटियामें चतुर्दिक् मयूर पंख लगा लिये हैं। ऐसा लगता है, जैसे मयूर पंखोंका श्रृंगार किये वे मेरे चतुर्दिक् हैं। मैं मन-ही-मन उनसे वार्त्तालाप करती हूँ। मैं उनसे प्रश्न कर बैठती हूँ – "प्रियतम ! क्या तुम मुझसे वियुक्त हो, मुझे अप्राप्त हो ?" मेरा प्रश्न पूरा मुझसे बोला भी नहीं जाता कि मध्यमें ही वे, अति मधुर भंगिमामें मुसकाते मेरे सम्मुख प्रकट हो जाते हैं। अतिशय मधुर मुसकाते, वे मुझे निहारने लगते हैं। उनके नेत्रोंसे मेरे नेत्र ऐसे जुड़ जाते हैं कि लजाकर मुझे ही अपना मुख नीचा करना पड़ता है।

"प्रियतमे ! 'प्राप्ति' मैं हूँ तो 'अप्राप्ति' भी तो मेरी ही है। और मुझमें तो 'मैं' एवं 'मेरा' – भिन्न एवं पृथक् सत्य कदापि संभव नहीं है।' उनकी प्रीति-रहस्यसे भरी वाणी मुझे निहाल कर देती है। प्रेम उनका दान है, तो त्याग भी उनका ही तो दान है। सत्कार एवं दुलार उनका दिया है, तो क्या दुत्कार उनका दिया प्रसाद नहीं है ? संयोग उनका है, तो क्या वियोग पराया है ? मुखारविन्द उनका है, तो क्या पीठ उनकी नहीं है ? वे मुझे साम्मुख्य देकर आलिंगित किये रहें, तो क्या वे कभी भी करवट लेकर मुझे पीठ नहीं दें ?

और मैं उनके भावपूर्ण कथनको सुनकर नृत्य करने लगती। मधुर-मधुर मुसकाते वे मुझे देख रहे होते हैं और हर्षोत्फुल्ल मेरा नृत्य विराम ही नहीं पाता। मैं हर्षविह्वल हो जाती हूँ।

भाईजी ! अबतक प्राप्ति को ही मैंने प्रेम मान रखा था। अप्राप्ति भी तो उतनी ही उनकी है, जितनी प्राप्ति। निजेन्द्रिय-भोग-सुखकी स्पृहा यदि समूल मिट जाय, तो प्राप्ति एवं अप्राप्तिमें भेद ही कहाँ है ? उनकी प्रसन्नता तो प्राप्तिमें भी है और अप्राप्तिमें भी है। भला कौन किससे पराङ्मुख होता है ? जो आलिंगन-दान देता है, वही तो पराङ्मुख भी होता है। सम्मुख जब तुम होओगे, तो पराङ्मुख क्या कोई अन्य होगा ? मिलन तुम्हारा है, तो बिछोह क्या दूसरेका संभव है ? राग-अनुराग उनका है, तो क्या त्याग-वैराग कोई और

करेगा ? अब तो मेरा एवं उनका इतना अटूट सम्बन्ध हो गया है कि कभी किसी भी अवस्थामें यह बन्धन ढीला हो ही नहीं सकता । अबतक मैंने उनके प्यारकी गरिमाको समझा ही नहीं था। उसकी गहराईमें मैं डूबी ही नहीं थी। मैं तो मात्र उनकी अनुकूलताकी ही भोक्ता थी। हाय ! वे मुझे कितना असीम प्यार करते थे और मैं कितनी भोग-लोलुप थी। मुझे अपनी नीचतापर इतना पश्चात्ताप होता है कि मेरा प्रेम-नृत्य आसुओंकी झड़ीमें बदल गया। मेरा मुख, वृक्ष सभी अश्रुधारासे तर हो जाते हैं। मैं उनके चरणोंमें लिपट जाती हूँ। मेरा रोम-रोम 'प्रियतम' चीत्कार करने लग जाता है।

"प्रियतम ! हा ! हतभाग्य,मैं तुम्हारे प्रेमको जान ही नहीं सकी।" अप्राप्ति सचमुच ही तुम्हारा असीम अनन्त प्यार है।

**राधा राधा राधा राधा**

## प्रसंग - बारह (१२)

# प्रेम किसको कहते हैं ?

*स्थान* : रतनगढ़,
तिथि संवत् कुछ नहीं

वृन्दावनका परम रमणीय स्थल। यमुनाका पावन पुलिन। परम रम्य कुसुमोंसे लदा कुंज। कदली-वृक्षोंसे झुके वृक्षोंके नीचे वे मुझे अपने वक्षसे लगाये बैठे हैं। अपना उत्तरीय ही उन्होंने मेरा आसन बना दिया है। अत्यंत स्नेहसे वे मुझे एवं मैं उन्हें निहार रही हूँ।

अनन्त, असीम प्रेम अपनी वाणीमें भरकर, मैं उनसे प्रश्न करती हूँ – "प्राणवल्लभ ! प्रेम किसको कहते हैं ?"

वे मुझे प्रीति-भारसे झुके नेत्रोंको उठाकर निरखते हैं और अति सुमधुर एवं गंभीर स्वरमें कहते हैं – "वल्लभे ! प्रेम और तुम – दो अलग कदापि संभव नहीं हैं। जिसे लोक एवं परलोकमें, जब भी मात्र तुम्हारे चरण-कमल ही स्वार्थ एवं परमार्थ समझमें आते हैं, तभी वह 'प्रेम' नाम लेनेका अधिकारी होता है।"

"प्राणेश्वरी !" उन्होंने अति प्यारसे मुझसे ही प्रश्न कर दिया – "जब तुम मेरे प्रेमकी उद्दीपित अवस्थामें होती हो, उस समय भला तुम्हें क्या अनुभव होता है ?"

"वल्लभ !" मैंने अति संकोचसे उत्तर दिया – "मुझे तो ऐसा लगता है, मानो मेरे भीतर एवं बाहरका सम्पूर्ण अवकाश ही तुम्हारी छबिसे भर गया है। मेरे श्वास-प्रश्वासके रूपमें मानों तुम ही मेरी जीवनधारा हो जाते हो, ऐसा अनुभव होता है मानों मुझमें रक्त-मांस-अस्थि सभीका अभाव हो गया है और तुम्हारे आकार-रूप पदार्थने मेरे भीतर जो भी रिक्त था उसे लबालब परिपूर्ण भर दिया है। उस समय मेरा मन मेरा नहीं रहता, तुम्हारा मन ही मेरा मन हो जाता है। उस समय तुम्हारी बुद्धि मेरी बुद्धि एवं तुम्हारा अहंकार मेरा अहं हो जाता है। उस समय मैं रहती ही नहीं, तुम-ही-तुम मुझे अपनेमें मिलाये सरसते रहते हो। मेरे जीवन ! उस समय मुझे चलते-फिरते, उठते-बैठते जाग्रत-स्वप्न, सभीकालमें एवं सभी अवस्थाओंमें यही अनुभव होता है, मानों मैं थी नहीं, हूँ नहीं रहूँगी भी नहीं। मात्र तुम-ही-तुम नित्य अखण्ड, परम सत्य-के-सत्य हो।"

उन्होंने मुझे अपने अंगोंमें समा लिया। उस समय न मैं थी, न ही वे थे। उनके लिये 'मैं-ही-मैं' थी और मेरे लिये 'वे-ही-वे' थे। मात्र प्रेम ही हम दोनोंकी सत्ताका एकमेव सत्य था।

मेरे पास तो न रूप है, न यौवन है। फिर मुझे वे क्यों प्यार करें, परन्तु वे मुझे अतिशय प्रेम करते हैं।

भाईजी ! क्या मैं पागल (बावली) हो रही हूँ। सचमुच ही किसी कामकी नहीं रह गयी हूँ। दिन-रात उनको ही देखती रहती हूँ। एक दिवस इसी संकोचमें यमुनामें डूबने चली गयी थी। वे राधारानीके हैं। मैं तो रानीकी एक तुच्छ सेविका हूँ। वे मुझे फिर क्यों प्यार करें ? इस मेरे प्रेम-प्यारका कोई अवांछित दुःखद परिणाम न हो। मैं उन्हें प्यार किये बिना रह नहीं सकती। अतः प्राण दे देना ही एकमात्र उपाय समझमें आया। यमुनामें डूब भी गयी। परन्तु डूबनेपर भी मेरे प्राण सर्वथा छूटे ही नहीं। उलटे सर्वांगोंमें परम शीतलता व्याप्त हो गयी। थोड़े ही कालमें वहाँ श्यामसुन्दर खड़े, हँसते दृष्टिगोचर हो गये। वे मुसका रहे थे। कह रहे थे – "मंजू ! तू प्राण देने आयी है ? तू प्राण दे देगी, तो मैं कैसे जीवित रहूँगा ?" बहन ! इसीलिये न मर सकती हूँ, न ही जी सकती हूँ। क्या करूँ ? जहाँ दृष्टि डालती हूँ, वहीं वे ही दिखते हैं। मुझे कोई भीषण रोग हो गया है ? इसका उपाय भी तो मेरे पास नहीं है। वे मेरे मनकी सब बात जानते हैं। अतः जहाँ उनसे बचकर जाना चाहूँ तो वे वहीं उपस्थित हो जाते हैं। अब तो जो होना हो, सो हो।

**राधा राधा राधा राधा**

प्रसंग - तेरह (१३)

# वे ही वे, वे ही वे, वे ही वे

रतनगढ़
तिथि अज्ञात

भाईजी ! गोरखपुरमें आपने सत्संगमें कहा था — "श्रीकृष्णने समस्त जगत्के सम्मुख यह सिद्ध कर दिया कि सब कुछ वे ही वे हैं। आदिकालमें प्रह्लादकी इसी आस्थाको कि भगवान् सर्वत्र हैं, उन्होंने विलक्षण नृसिंह अवतार ले करके सत्य सिद्ध कर दिया। श्रीकृष्णावतारमें अति शिशु-अवस्थामें उबासी लेते समय, माँ यशोदाको उन्होंने अपने खुले, नन्हेसे मुखमें अनन्त विश्व-ब्रह्माण्डका दर्शन कराया। इसी प्रकार बाललीलामें मृत्तिका-भक्षण करके माता यशोदाके सम्मुख पुनः यही सत्य दोहराया। कौरवोंकी राज्यसभामें सभी उपस्थित जन-समुदायके सम्मुख उन्होंने पुनः विराट्-रूप प्रकट किया। अर्जुनको युद्धकालमें यही विश्व-विराट्रूप दिव्यदृष्टि देकर दिखाया और महाभारत युद्धकी समाप्तिपर द्वारका लौटते समय इसी विश्व-विराट्रूपको पुनः महर्षि उत्तंकके सम्मुख प्रकट किया।"

भाईजी ! मेरे मनने आपकी इस बातको बहुत ही दृढ़तापूर्वक पकड़ ली है। अतः मानसिक भावजगत्में भी मेरे सम्मुख ऐसी ही लीलाएँ एवं भाव सामने आते हैं। एक दृश्यका उल्लेख कर रहा हूँ —

"यमुनाका पावन पुलिन है, सम्मुख असंख्य नील-कमलोंको खिले देखकर उनकी स्मृति अत्यंत प्रगाढ़ हो रही है। मनमें आता है कि सम्मुख-स्थित इस कदम्बवृक्षके अणु-अणुमें भी तो वे ही भरे होंगे। ***"मनसा वचसा दृष्ट्या"*** भागवतके श्लोकके अनुसार तो निश्चय ही वे भरे होंगे। कदम्ब बने मेरे सामने वे ही तो खड़े हैं। बस, कदम्बको श्रीकृष्ण ही मानकर उससे लिपट जाती हूँ। मानो उनके ही चरण-कमलोंसे लगी हूँ — इस भावमें सभी बाह्य ज्ञान लुप्त हो जाता है। ज्योंही कुछ ज्ञान होता है, तो ऐसा प्रतीत होता है, मानों कुछ सखियाँ यमुनाघाटमें जल भरने आयी हैं। वे मुझे कदम्बवृक्षसे लिपटी देख घेर लेती हैं। उनमेंसे एक सखी मुझे जाग्रत करनेके लिये बार-बार हिलाती है। परन्तु मुझे तो मुग्धावस्थामें भी उस सखीके रूपमें श्यामसुन्दर ही दिखते हैं। वह ज्योंही

मुझे हिलाकर मेरी प्रीति-मूर्च्छा भंग करती है, मैं 'प्रियतम' कहकर उसे आलिंगन कर लेती हूँ। मुझे तो उस सखीके रूपमें शतप्रतिशत श्यामसुन्दर ही दिखते हैं। मैं अपनी पहनी हुई पुष्पमाला भी सकुचाती हुई उसकी ग्रीवामें डाल देती हूँ। मेरी भावावस्था देखकर सभी सखियाँ खिल-खिलाकर हँस पड़ती हैं। परन्तु मुझे तो उन सभीमें प्रियतम श्यामसुन्दर ही खिल-खिल हँसते दृष्टिगोचर होते हैं। मेरी तो दृष्टि ही पलटी होती है। कहीं किसी मुद्रामें एवं कभी किसीमें – मुझे तो वे ही सरस रहे प्रतीत होते हैं। ज्यों-त्योंकर कोई सखी मेरे मुखपर पानीके छींटे डालकर जाग्रत करती है। सम्मुख मयूर नृत्य कर रहा है। परन्तु भाईजी ! आपके सत्संगके अन्तश्चेतनामें इतने घने संस्कार रहते हैं कि नेत्रेन्द्रिय मयूरको देखती हुई भी भावकी प्रबलतावश उसे नकार जाती है। बुद्धि एवं विचार नेत्रेन्द्रियके प्रत्यक्ष दर्शनको झुठलाते हैं और यही विचार कौंधते हैं– मयूरकी सत्य सत्ता थी नहीं, है नहीं, होगी भी नहीं। मात्र मुझे सुख देनेके लिये ही वे एकमेव, अनेक बने लीला कर रहे हैं। वे ही अनन्त रूप, अनन्त गुणों-अवगुणोंके वस्त्र पहने मेरे सामने आ रहे हैं। मुझे आह्लादित करने के लिये ही वे यमुना बनकर कल-कल निनाद कर रहे हैं, सुगन्धित सुन्दर सुमनोंके रूपमें वे ही मनको आच्छादित किये हैं। अनेकों प्रकारके वर्ण, अनेकों प्रकारकी सुगन्धमें वे प्रेमभरे सरस रहे हैं। वे ही भ्रमर एवं तितलियाँ बने कितने प्रेम मतवाले नृत्य कर रहे हैं। मेरे चतुर्दिक् प्रेम-न्यौछावर करते, असंख्य रूपोंमें सरसते, उन परम शोभामयको देखकर मैं भावावेशमें पुकार उठती हूँ – "प्रियतम ! प्रियतम ! प्राणवल्लभ !!

सहसा बाह्य जाग्रति हो जाती है। मैंने तो राधानामके अतिरिक्त कुछ भी नहीं बोलनेका व्रत लिया है। यह क्या ! दूसरे शब्द कैसे बोल रहा हूँ। अपने निवाससे बाहर झाँकता हूँ – कहीं कोई सुन तो नहीं रहा है ? बाहर किसीको भी सुनता नहीं पाकर, आश्वस्त होता हूँ। फिर अपने शरीरमें भी उन्हें ही भरा देखने लगता हूँ। ऐसा अनुभव होता है, मेरे रोम-रोमके रूपमें वे ही वे तो परमसत्य हैं। कमरेकी दीवार उनकी नीली आभामें ओत-प्रोत दिखती हैं। मेरे स्वयंका तो अनुसंधान ही परम असत्य हो उठता है। मैं इस सुविचारित तथ्यमें निदिध्यस्त हो जाता हूँ कि मेरा 'स्व' 'अहं' सर्वथा मिथ्या, मात्र प्रातीतिक, मायागत है। उन्होंने ही मेरा रूप रखकर मुझे ही भ्रमित कर रखा है।

प्रसंग - चौदह (१४)

# प्रभात जागरण

रतनगढ़
दिनांक : अज्ञात

सूर्योदयके पूर्व नेत्र खोलती हूँ तो वे प्रियतम अपार स्वागत करते मेरे सामने खड़े होते हैं। मेरे दिवसका प्रथम दृश्य वे ही होते हैं। मैं शय्यासे उठूँ, इसके पूर्व ही वे मेरी शय्यामें बैठ जाते हैं। उनकी असीम, अनन्त प्रेमसनी 'प्राणेश्वरी, प्राणेश्वरी' शब्दावली मेरे कर्णपुटोंमें अमृत घोल जाती है। उनका अपार प्रेमसे भरा आलिंगन ही मेरे दिवसका प्रथम संस्पर्श होता है। उनके अंगोंकी सुमधुर गंध मेरी नासिकामें भर जाती है और वह मदमाती गन्ध दिवसभर मुझे उनकी स्मृतिमें मुग्ध किये रहती है। वे मुझे अपने अंकमें लिपटा लेते हैं और उनके बाहुओंमें बँधी, उनके अनन्त प्यारका आस्वादन करने लगती हूँ। मेरे नेत्र प्रेम-सुखमें मुँदने लगते हैं और वे अपने रसभरे अधरोंसे उन्हें प्रेम-सिक्त करते रहते हैं।

भाईजी ! उस समय मेरे चारों ओर मात्र प्रीतिशोभा ही बिखरी होती है। आकाश, मेरे प्रियतमके प्रेमसे भीगा होता है, प्राण प्रेमसे शीतल। सम्पूर्ण प्रकृति (जल-स्थल) उस समय ऐसी प्रेम-शोभासे भरी होती है कि अनन्त लक्ष्मियाँ उसपर न्यौछावर हो जावें।

मेरे प्राण भी श्याममय हो प्रियतमरूप हो जाते हैं, वे मेरे रोम-रोममें प्रवेश होकर मेरे तनके अणु-अणुको श्यामल प्रीत्याकृतिसे आच्छादित करने लगते हैं। मेरे निवास-कक्षका सम्पूर्ण अवकाश ही प्रियतममय हो जाता है। मेरे नेत्रोंको बस, प्रियतम-ही-प्रियतम सर्वत्र दिखते हैं और शेष सब दिखना बन्द हो जाता है। नेत्र मानों अन्धे हो जाते हैं। कानोंमें अब कोई शब्द ही प्रवेश नहीं हो सकता। एक ही शब्द विश्वके सम्पूर्ण वातावरणसे झंकृत होता रहता है – 'प्रिये ! प्राणेश्वरी !! प्राणवल्लभे !!! जीवनेश्वरी !!!!

उसे वैखरी कहूँ, मध्यमा कहूँ – मेरा मुख यदि वाणी देता है तो बस, एक यही ''प्रीतम ! प्राणवल्लभ !! जीवन सर्वस्व !!!

'प्रीतम हे, प्राणवल्लभ हे, जीवन सर्वस्व हे !

## प्रसंग - पन्द्रह (१५)

# कामेश्वर अंकोपरि राजति रतिकलिते

रतनगढ़

**दिनांक : अज्ञात**

गिरिराजका एकान्त परिसर । एक सरोवरके पास हम दोनों आसीन हैं। वे उस कुण्डको 'सुन्दरी-सरोवर' नामसे अभिहित करते हैं। प्रायः हम दोनोंका मिलन यहीं होता है। सरोवरमें असंख्य नील, पीत, रक्तवर्णके कमल विकसित हो रहे हैं। घाट पर बनी एक पुष्पाच्छादित छत्रीमें हम दोनों आसीन हैं। हम दोनों पर लतायें रह-रहकर सुगन्धित पुष्प गिरा दे रही हैं। सम्मुख ही फलोंसे लदा जामुन वृक्ष है। जामुन-फलोंका रस उस वृक्षसे भूमिपर टपक रहा है। सरोवरमें हंस-हंसनी तैर रहे हैं। निर्मल, शान्त जलको वायु स्पंदित कर रही है।

सहसा वे नेत्र मूँदकर ध्यानस्थ हुए, कुछ जपने लगते हैं। मैं उन्हें हिलाकर पूछती हूँ – "प्राण ! क्या कर रहे हो ?" वे कहते हैं – "जप करता हूँ।" मैं पूछती हूँ – "आप भी जप, ध्यान, साधना करते हो, किसे प्राप्त करना है ?" "मैं शिवोऽहं, कामोऽहं, कामेश्वरोऽहं जाप करता हूँ" – वे कहने लगे।

मुझे हँसी आ गयी। कहने लगी – "यदि तुम शिव हो, तो मयूर-मुकुट क्यों धारण करते हो ? तुम्हारे अंगोंमें लिपटे सर्प तो इस मयूर-पिच्छसे डरकर भाग जावेंगे, और तुम्हारे संगी भूत-प्रेतोंको देखकर भयभीत हुई मुझे अकालमें ही मृत्यु वरण करनी पड़ेगी।"

वे मुसकाने लगे। कहने लगे – "मैं तुम्हारे ही लिये तो शिवत्व, कामत्व एवं कामेश्वरत्व वरण कर रहा हूँ।" मैं उनसे लिपट गयी। "प्राणनाथ ! तुम मेरे लिये तो मात्र मेरे प्रियतम पदको ही वरण किये रहो। मुझे तो तुम्हारी यह मनमोहक श्याम कान्ति ही सर्वाधिक प्रिय है।"

वे हँसते हुए पुनः बोले – 'बताओ ! शिव-प्रिया पार्वती, काम-प्रिया रति एवं भगवती कामेश्वरांक-निलया कामेश्वरी कहाँ आसीन रहती हैं ?" मैंने कहा – "पार्वती शिवके, रति कामदेवके एवं भगवती कामेश्वरी भगवान् कामेश्वरके अंकमें सदा रहती हैं।" वे अब तो बहुत ही जोरसे हँस पड़े। उनकी ऐसी उन्मत्त खिलखिलाहट मैंने अबतक देखी ही नहीं थी।

"बस, यही समझानेके लिये तो मैं शिव हो रहा हूँ।" वे अब भी अति प्रेमभरे मुसका रहे थे। उनकी मुसकान विलक्षण तत्व रहस्यका मुझपर ज्ञापन कर रही थी।

मैं कहीं भी रहूँ, कुछ भी होऊँ, प्रियतम मुझे अपनी प्यारभरी गोदसे कभी

पृथक् नहीं करते हैं। महा-आनन्दमें मैं डूबती जा रही थी। प्रियतम मेरे, मेरे-के-मेरे हैं। मेरे प्रियतम न ही जपसे मेरे हैं, न तपसे मेरे हैं, न ध्यानसे मेरे हैं, न ज्ञानसे; वे न शमसे मेरे हैं न दमसे; वे न ही योगसे, न यज्ञसे मेरे हैं। यम-नियम, पुण्य-पाप, सत्कर्म-दुष्कर्म, कोई भी उत्तमता, अथवा अधमता उन्हें संस्पर्श ही नहीं कर सकती। वे अकारण, हेतुरहित, मात्र प्रेमसे मेरे हैं। मैं पापी हूँ, दुर्गुणी हूँ, कुरूप हूँ, अधम हूँ, निकृष्ट हूँ, पतित हूँ, अल्प हूँ, चाहे घोर-से-घोर बुरी मेरी गति हो, मैं कीट-पतंग, पशु-पक्षी, देव-दानव, असुर-गन्धर्व, कुछ भी हूँ, मैं मात्र प्रेमसे उनकी प्राणप्रिया हूँ। वे सदा सर्वकाल मेरे, पूरे मेरे हैं। मेरा शाश्वत-धाम उनकी गोद है। मेरा भूत-भविष्य-वर्त्तमान सब उनकी गोद है। मैं पूरी-की-पूरी उनकी हूँ। रोम-रोमसे उनकी हूँ। मैं पूरी उनमें समाहित हूँ। मेरे ऊपर वे, नीचे वे, दाँये वे, बाँये वे, बाहर वे, भीतर वे ही वे हैं। ऐसी मैं उनकी प्राणप्रिया और वे मेरे प्रियतम हैं।

उनका आकाश मेरे आकाशको गोद लिये है, मेरे प्राण उनके प्राणोंकी गोदमें आलिंगित हैं। मेरे प्राण ही उनके तनमें प्रवाहित हो रहे हैं, और उनके प्राणोंसे मैं निश्वसित हो रही हूँ। मेरा तन, मन, बुद्धि सभी उनसे एक ही हैं। उनका निर्णय मेरा निर्णय, उनके संकल्प-विकल्प मेरे संकल्प-विकल्प, उनकी रुचि, मेरी रुचि। उनका जीवन मात्र मेरा जीवन है। मेरी मात्र आँख है, वे देखते हैं, उनकी आँखोंसे मैं झाँकती हूँ। उनके मुखसे मैं बोलती हूँ और मेरे मुखसे वे। उनका अहंकार मेरा अहं और मेरा अहंकार उनका अहं हो गया है। एक उत्तुंग लहर जैसे छोटी लहरको अपनेमें लीन कर लेती है, घटके फूटते ही, उसका मृत्तिकाऽवरण विच्छिन्न होते ही जैसे घटाकाश महाकाशसे एकमेक हो जाता है, टिमटिमाते दीपके निर्वाण होते ही जैसे उसकी ज्योति अनन्त ऊर्जामें रम जाती है, मेरा पंचभूत उनके पंचभूतसे और मेरा अन्तःकरण उनके अन्तःकरणसे एकात्म हो रहा है। मैं कहीं कुछ शेष नहीं रही। वे ही वे हैं, यही हम दोनोंका मधुरतम प्रेममिलन है।

महाकाशमें उनकी उक्ति गूँजती हुई सर्वव्यापी शब्द-सत्तामें समा जाती है – "प्राणेश्वरी ! तुम ही मेरा भाग्य हो, सौभाग्य हो। मैं शिव हूँ, तुम शिवा हो; मैं काम हूँ, तुम रति हो; मैं भगवान् कामेश्वर एवं तुम कामेश्वरी हो; मैं कृष्ण, तुम कृष्णा हो, मेरी सौन्दर्य-माधुर्य-गुणनिधि तुम हो, तुम ही मेरी ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य एवं यशस्विता हो; तुम मेरे पुण्योंका अक्षय फल हो, तुम मेरे नेत्रोंकी लक्ष्मी हो, तुम मेरी रसनाकी सुधा-स्रोतस्विनी हो, तुम ही मेरी वाणीदेवी सरस्वती हो। तुम मेरी सर्वस्व हो। मैं सर्वतोभावेन तुम्हारा हूँ।"

## प्रसंग - सोलह (१६)

# मयूर-मुक्तामणियाँ

रतनगढ़
दिनांक - अज्ञात

एक विचित्र वन दृष्टिगोचर होता है। उसमें विलक्षण सुन्दर सरोवर हैं। उसमें कुन्दनके केसरवर्णी घाट हैं, नीलमणिके समान स्वच्छ, निर्मल, नीला जल है। उस वनका आकाश प्रायः सदा ही नव मेघोंसे आच्छादित रहता है। काले-काले मेघ एकके-ऊपर-एक उमड़ते ही रहते हैं, मन्द-मन्द गर्जन एवं नेह-फुहारोंकी बौछारें होती ही रहती हैं। चातक, पिक, रह-रहकर पिहू-पिहूकी ध्वनि करते रहते हैं। उस वनमें आम्र, कदम्ब – सभी वृक्ष प्रत्येक कालमें पुष्पित, फलित ही रहते हैं। भ्रमरोंका रव तो सदा ही वहाँ मुखरित रहता है। उस वनमें असंख्य मयूर हैं। उनका एक 'सुन्दरी' नामक मयूर नेतृत्व करता है। ज्यों ही प्राणवल्लभका पर्दापण उस वनमें होता है, असंख्य मयूर दिशाओं-दिशाओंसे 'केहाँ-केहाँ' करते उमड़ आते हैं। वे प्रियतम प्राणवल्लभको सर्वओरसे घेर लेते हैं। उनका प्रियतम नील-मेघ ही मानो आकाशसे धराको समलंकृत करता, अवतरण कर आया हो, वे अतिशय प्रमुदित अपना नृत्य प्रारंभ कर देते हैं।

प्रियतम एक दिवस मुझे भी उस वनमें ले गये। प्रियतमको देखते ही मयूरोंने अपने पिच्छ ऊर्ध्वकर, नृत्य प्रारंभ कर दिया था। वे कितना भावपूर्ण घूमर नृत्य कर रहे थे, वाणी उसका वर्णन करनेमें असमर्थ थी। नृत्यके साथ उनसभीके नयनोंसे प्रेमाश्रु झर रहे थे। अश्रु उनके नेत्रोंसे निर्गलित हुए जैसे ही धराको समलंकृत करते, वे अनमोल मुक्ताओंमें परिवर्त्तित हो जाते थे। प्राकृत जगत्में तो इसे कोई सर्वथा असत्य ही समझेगा, परन्तु जिस किसी भाग्यवान् ने यदि भावजगत्का किंचित् भी संस्पर्श किया है, तो वह इसे सर्वथा ही सत्य मानेगा। तो मयूरोंके अश्रुओंसे निर्मित मुक्ताओंके वहाँ चतुर्दिक् ढेर लग गये। प्रियतमके आदेशपर मैंने भी दो-चार मुक्तामणियोंको अपने हाथमें लेकर परीक्षण किया। सीपीके सम्पुटसे तो इतने विशाल मोती प्रकट होने भले ही संभव हों, परन्तु ऐसी पानीदार सुन्दरतम मुक्तामणियाँ मयूर अपने प्रेमाश्रुओंसे निर्माण कर सकते हैं – यह चमत्कार तो आज ही प्रियतम प्राणवल्लभके सान्निध्यमें देखनेको

मिला था। मैं आश्चर्यचकित उन मुक्ताओंको भलीप्रकार निरख ही रही थी, उनकी मनोहारी सुन्दरतासे चकित हो ही रही थी कि मेरे नेत्र एक और महान् आश्चर्य देखकर अभिभूत हो उठे। उन मुक्तामणियोंके अन्तरालमें प्रियतम नीलमणिकी मयूर-मुकुटी, प्रेम-सौन्दर्यभरी मुखाकृति झलमला रही थी। मैं प्रियतमकी ओर देखने लगी थी और वे मेरी ओर। सहसा मैंने एक प्रस्तर-खण्डसे एक मुक्ताके अनेक टुकड़े-टुकड़े कर दिये, परन्तु उस मुक्ताके सभी खण्डोंमें भी वह श्यामाकृति ज्यों-की-त्यों झलमला रही थी। मेरी भावधारा, अतिशय गहन-गंभीर हो चली। मुझे अनुभव होने लगा जैसे उन मुक्ताओंके कलेवरके मध्य मेरे प्राणवल्लभकी सुमूर्त्ति झलमला रही है, उसी प्रकार मेरा कलेवर भी मेरे प्राणवल्लभकी छबिसे जगमगा रहा है।

मुझे अपना तन मात्र मुक्ताका खोल ही दिखने लगा। वे तो मुसकाते जा रहे थे। वे कोई प्रवचनकर्त्ता थोड़े ही थे, जो तत्व-रहस्यकी बड़ी-बड़ी बातें बढ़-चढ़कर बोलते फिरें। वे तो सुमूर्त्त तत्व हैं। उनकी मुसकानमें ही तो सम्पूर्ण माया वास करती है। उनकी मुसकान मायामें जकड़ भी लेती है और माया-मुक्त भी कर देती है। मेरे सम्मुख जब भी वे मुसकाते हैं, उनकी सृष्टिके सब रहस्य कदलीकी छालकी तरह खुलते चले जाते हैं।

"यह मयूर-मुकुट मेरे प्रियतमसे कुछ भिन्न कोई पृथक् वस्तु थोड़े ही है। वे जैसे मुक्ता हैं, मुक्तामें जैसे ओत-प्रोत है, उसी प्रकार इस 'सुन्दरी' मयूर में भी वे ओत-प्रोत हैं। उसके पिच्छकी भी वे ही आकृति बने हैं, वे ही वंशकुंज हैं, वंशी हैं और वंशीरव हैं। वे ही वृन्दावन-गोकुलके नर-नारी, भूमि-भवन, वृक्ष-ओषधि, फूल-फल, गिरि-नदी-नद-निर्झर सब बने हैं। सभीके अन्तरालसे यदि ध्यानसे कोई देखे, तो उनकी मयूर-मुकुटी छबि निश्चय ही प्रत्यक्ष हो उठेगी।"

मैं इस विचारधारामें उलझी ही थी, कि वे बोल उठे – "प्रिये ! तुम मुझसे हो, मुझमें हो और पूर्णतया मेरी ही हो; मेरी जीवन हो, हृदय हो, प्राणोंकी प्राण हो।"

मैं उनके वक्षस्थलसे सट जाती हूँ। उनका प्यार मेरे रोम-रोममें एक विलक्षण रसमयी सिहरन उत्पन्न कर देता है। जैसे सर्वकाल सत्ता ही हमारी प्रीतिका रसास्वादन करने स्तंभित हो गयी है। उनकी प्रीति मेरे रोम-रोममें प्रवेश हो रही है। मैं डूबती चली जाती हूँ। वाणी मूक है। बस, आस्वादन, आस्वादन, मात्र आस्वादन ही शेष रहता है। उनका कितना अथाह, असीम प्रेम है। समूची-की-समूची ही मैं आस्वादनरूप हो उठती हूँ। प्रेमास्वादनमें डूबी

मेरी नेत्र-ज्योति अन्य कुछ भी नहीं देख पाती। अन्य दृश्यके लिये वह अंधी ही हो जाती है। नेत्र आस्वादनरूप हुए मुग्ध मुँद जाते हैं। अपने प्रियतमको अपनेसे पृथक्, बाहर दृश्यरूप करनेको जैसे दृष्टा तत्पर ही नहीं हो रहा हो। नेत्र तो द्रष्टाके आधीन हैं। "मैं" द्रष्टा बाहर तो है नहीं। "मैं" तो भीतर-भीतर सबका आश्रय, सबका साक्षी जो है। फिर मेरा प्रियतम तो मुझसे आलिंगित है ही। तन तो केवल मुक्ताकी बाहरी खोल है। प्रियतम तो भीतर समासीन हैं। वे तो मेरे प्रियतम हैं। वे न तनके भोग हैं, न ही मनके, न ही इन्द्रियोंके भोग हैं। उनका बुद्धिसे, शरीरगत अहंकारसे भी क्या प्रयोजन ? वे तो मेरे भोग हैं। वे भोक्ता हैं और मैं भोग्या । मैं भोक्ता हूँ और वे भोग्य। वे मेरे अपने-के-अपने हैं। वे मुझसे हैं, मुझमें हैं और मेरे ही हैं। मेरे 'मैं' के वे ही मात्र निस्व हैं। मेरे 'मैं' के वे ही वैभव हैं, यश हैं, बल हैं, आधार हैं। मैं तो उनकी ही हूँ, उनसे ही एकमेक नित्य आलिंगित हूँ। बाहरके नेत्र उनको भीतर-भीतर ढूँढते उनतक पहुँच जाते हैं और उनके रूपसे एकमेक हो जाते हैं। बाहरके कान भीतर मुड़ जाते हैं। वह तो मेरा है मुझमें रस घोल रहा है। अतः कान भी गहरे-गहरे उनकी मधुरतम शब्दावलीकी खोजमें डूबते जाते हैं। अन्ततः उन्हें पाकर, उनकी सुमधुरतम शब्द-राशिमें समाहित हो जाते हैं। कान अमृतमें पग गये हैं, पूर्ण रस-सिक्त हो उठते हैं।

भाईजी ! जब मैं अपनी इस भाव-दशामें रहता हूँ, मुझे पता ही नहीं रहता कि बाहर दिन है या रात है। बाहर कौन देश है, कौन गाँव है ? बाहर कीट-पतंग, पशु-पक्षी, न जाने किस योनि में हूँ ? मेरा तो नित्य अमृत-भावदेश है। नित्य अमृत-काल है। मेरी निशा अमृत, मेरा प्रभात अमृत है। प्रेमामृतमें डूबी – मैं विसुध हूँ।

---

प्रसंग - सत्रह (१७)

# एकमात्र वह मयूर-मुकुटी ही मेरा है

रतनगढ़
तिथि : अज्ञात

भाईजी ! भावजगत्में मुझे न मेरी माँ की स्मृति है, न पिताकी। भावजगत्में न मेरा घर है न मेरा ग्राम। न जाति है, न ही गोत्र। न करण, न कार्य। एकमात्र वह मयूर-मुकुटी ही मेरा है — एकमात्र मेरा है, सर्वकालमें मेरा है। वही मेरा एकमात्र सर्वस्व है; वही मेरी सम्पूर्ण गति है। उसीसे मेरा उद्भव है, उसीमें स्थिति है, और वही मेरा प्रलय है। वही मेरा स्वर्ग है, नरक है, दुःख है, सुख है, भाग्य है, सौभाग्य है, कर्म है, उपासना है, धर्म है, धारणा है, वही जप, तप, तीर्थ, व्रत मेरी समग्र पुण्य-राशिका एकमात्र आधार ! वह मेरा सखा है, नित्य संगी है, अपने-का-अपना है, ममतास्पद है। वही ज्ञेय-ध्येय, ईश्वरों-का-ईश्वर है।

वह मुझे प्रतिदिवस, जब इच्छा हो तभी दर्शन देते हैं। आज गोविन्दरामजी के यहाँ विचित्र स्थिति हो गयी। आपने मुझे भगवन्नाम सुनाने भेजा था। परन्तु वे मुझे वृन्दावनमें ले गये। मानसिक-भावोंकी आँधी इतनी प्रबल थी कि रोके नहीं रुक पा रही थी। अन्तर्भावनाको रोकनेकी बहुत चेष्टा कर रहा था। नेत्र मुँदे-मुँदे जा रहे थे। शरीर तो गोविन्दरामके घरमें था, परन्तु वे मुझे घने कदम्ब-कुञ्जोंमें ले गये। कदम्ब ही कदम्ब। एक नहीं, दो नहीं, असंख्य। सभी मंजरियोंसे लदे। मंजरियोंकी महकसे भ्रमर आकर्षित होकर उमड़े आ रहे थे। उनके निनादसे सम्पूर्ण वन मुखरित था, परन्तु वह निनाद इतना सरस था कि उसका कोलाहल हृदयकी भावधारामें तनिक भी विक्षेप नहीं करता था। अपितु, वह भ्रमरोंका गुञ्जार चित्तमें प्रेमोद्दीपन ही करता था। कदम्बकी एक शाखामें पुष्पलताओंको गूँथकर एक मजबूत झूला डाला हुआ था। रंग-बिरंगे पुष्पोंसे लदे उस झूलनेकी शोभा दर्शनीय थी। सम्मुख यमुनाका पंकिल किनारा और उसमें असंख्य पद्म विकसित थे।

उस झूलेपर उन्होंने अपना पीताम्बर उपरैना बिछा दिया और मुझे उसपर आसीन कर दिया। तत्पश्चात् वे भी उस पर बैठ गये। अति प्रेम-मुग्ध

हुई मैं, उनको एकटक निरख रही थी। वे सुमधुर वेणुवादनकर मुझे आह्लादित कर रहे थे। उनका वेणुवादन इतना सुमधुर था कि मैं अर्ध-विक्षिप्त होने लगा। वहाँसे शीघ्र ही आपकी हवेली लौट आया। आपने आनेपर मुझे पूछा – "स्वामीजी ! इतने शीघ्र ही आगये ?" मैं आपको क्या उत्तर देता, तुरन्त ही अपने निवासमें जाकर उस अतिशय सुमधुर वंशीध्वनिमें डूब गया।

बीच-बीचमें वे वेणुवादनको विराम दे देते थे। उस समय वे मेरे नेत्रोंमें नेत्र डाल इस प्रकार प्रीतिभरी हास-छटा बिखेरते कि चित्त उसपर न्यौछावर हो जाता। उनका, भाईजी ! मेरे प्रति इतना असीम प्यार है कि मुझे तो उसका कोई हेतु ही समझमें नहीं आता।

उनका स्नेह देखकर मेरे नयनोंमें अश्रु छलक आते हैं, तो वे इन बिन्दुओंको अपने हाथों पौंछने लगते हैं। उनका स्पर्श मेरे अंग-अंगको रोमाञ्चित कर देता है। भाईजी ! इस सभी सुखकी मूल-हेतु तो आपकी ही कृपा है। आज भी लगता है, मेरे हृदयमें इन भावोंकी प्रबलतम आँधी आप ही उठाते हैं। निश्चय ही आप प्रीतिके अथाह, अनन्त समुद्र हैं। विश्वमें कहीं भी यदि वर्षा होती है तो उसका हेतु मात्र वारिधि ही तो है। आप अनन्त, असीम प्रेम-वारिधि हैं जो उमड़-उमड़कर मुझे विलीन कर रहे हैं। भाईजी ! मेरी ऐसी कौनसी योग्यता आपने परखी है, जिससे इतनी कृपा-वर्षा आप मुझपर कर रहे हैं। मैं तो किसी भी प्रकार की कोई भी पात्रता अपनेमें नहीं देखता। मैं क्या कहूँ – मैं तो आपकी चरण-रजपर न्यौछावर हूँ। मेरे अपराधोंको सदा क्षमा करते रहें।

**राधा राधा राधा राधा**

प्रसंग - अठारह (१८)

# जैसे पीताम्बर, मोरमुकुट, वेणु उनकी है, उसी प्रकार मैं भी उनकी ही, मात्र उनकी ही हूँ

**रतनगढ़**
**मार्गशीर्ष मासकी कृष्णाष्टमी**
**सं. १९९७ वि.**

यमुनाका किनारा। स्वर्णमय मनोहर घाट । चतुर्दिक् सुन्दरतम फुलवारी। सामने उपवन एवं कदलीवन । कदलीवनके पूर्ववर्त्ती भागमें आम्रवन। पश्चिममें कदम्बवन। कदम्बसे आगे बाँसके घने कुंज। कदम्बवनमें कदम्बके मध्य अनेक तमालके वृक्ष हैं। सम्मुख कदलीवनसे ग्रामकी ओर लधुपथ (पगडंडी) जा रहा है। पथके दोनों ओर भी सुन्दर फूलोंकी झाड़ियाँ हैं, उनमें भिन्न-भिन्न प्रकारके पुष्प विकसित हैं।

सखियोंके साथ जल भरने यमुना आई हूँ। अपने स्वर्णघटको जैसे ही जलमें डुबाया, पैर रपट गया। यमुनामें फिसलकर गिरी तो वस्त्र भीग गये। किसीने चुहलमें एक घट मुझपर और उँडेल दिया। पूरा स्नान हो गया। उठनेको उद्यत हुई तो सखीने यमुनामें पुनः धकेल दी। अब पूरी भीगी, तनसे चिपटे-सटे कपड़ोंमें ग्राममें कैसे प्रवेश करूँगी। एक सखीसे प्रार्थना की कि गृहसे मेरे सूखे वस्त्र ले आवे। सब सखियाँ आश्वासन देकर, मुसकातीं अपने जलके घट लेकर चली गयीं। मैं अकेली एकान्त देखकर अपने भीगे वस्त्र उतारकर उन्हें सुखानेका प्रयास कर रही थी कि वे सम्मुख ही दृष्टिगोचर होगये।

मैं लज्जावश एक वृक्षकी ओट करके पीठ देकर विपरीत दिशामें मुखकर, खड़ी होगयी। अति मधुर उनकी शब्दावली कानोंमें रस घोल गयी।

"अरी तू तो पूरी-की-पूरी रससे भीगी है री ?"

उस मधुर शब्दावलीका ऐसा सरस प्रभाव मनपर पड़ा कि ऐसा प्रतीत होने लगा कि जैसे मैं यमुना जलमें नहीं, उनके प्रेममें भीगी खड़ी हूँ। मेरे पूरे अंगोंसे, वस्त्रोंसे जलकी बूँदें नहीं, वे ही, उनका स्नेह ही चू रहा है, टपक रहा

है। मैं उनको पीठ देकर खड़ी थी, परन्तु वे मेरे सम्मुख आ गये थे। मैं पुनः उनसे विमुख दिशामें पलटूँ, परन्तु मेरे पलटनेके पूर्व ही वे मेरे सम्मुख आ जाते थे।

वे बहुत ही सुन्दर थे। उनका मयूर-मुकुट, घुँघराली अलकावलि, कपोलोंपर कस्तूरीकी, केसरकी चित्रकारी, कुमकुमका तिलक, कजरारी भौंहें, अधरोंपर लालिमा, कानोंके कुण्डल, उनकी वनमाला, गलेमें पड़ी गुञ्जा, उनकी चाल, उनके हाव-भाव, मुसकान सब इतने सुन्दर थे कि कोई भी रमणीका चित्त ऐसे प्रेमी रसिक-सुन्दरपर न्यौछावर नहीं हो जाय, असंभव था।

उन्होंने ऐसी माया की कि ऐसा लगने लगा मानो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार मेरे सभी अन्तःकरण एवं नेत्र, कान, घ्राण, त्वचा, सब बहिःकरण उनके प्रेमरसमें घुलकर उनकी ओर प्रवाहित होने जा रहे हैं। मैं पूरी-की-पूरी उनके प्रेमरसमें भीगी जा रही थी। मैं समग्ररूपमें घुलकर रसरूप हुई उनमें मिल जा रही हूँ। मुझ समग्रको मिटाकर वे ही वे मुझमें अपनेको भर रहे हैं।

मैंने उनकी ओर देखा, परन्तु मैं उनकी छबि देखकर आश्चर्यचकित हो उठी थी। मयूर-मुकुटसे लेकर पीताम्बरके छोरतक – उनके सब अंग-अवयवोंमें उन्होंने जैसे मुझे भर रखा था। वे मुझसे पूरे भीगे खड़े थे। बड़ी विलक्षण दशा थी, वे मुझे ही नहीं मिटारहे थे, स्वयं भी पूरे रिक्त-घट थे, जिसे मुझ सरिताके प्रेमजलसे वे भरनेको पूर्ण समुत्सुक थे।

आगेकी घटना क्या कहूँ ? उन्होंने सहसा आगे बढ़कर मुझे भुजाओंमें पूर्णालिंगित कर लिया था। और तब वे मुझे निकटस्थ एकान्त कुञ्जमें ले गये। वे मेरा श्रृंगार करने लगे।

वाह रे भाग्य ! उन्होंने भाईजी ! फिर मुझे ऐसा सजाया कि कोई कोना ऐसा शेष नहीं बचा, जिसे उन्होंने अपनेसे नहीं भर दिया हो। मेरा रोम-रोम उन्होंने अपनेमें सज्जित कर लिया और अपने रोम-रोमसे वे मुझमें सज्जित होगये। भाईजी ! घण्टों मेरी कैसी स्थिति रही, मैं कुछ भी वर्णन नहीं कर सकती। सखियाँ आ गयीं मेरे सभी वस्त्र लेकर। परन्तु मैं तो उन्मादिनी थी। प्रिय ने मेरा सारा तन पत्रोंसे आवृत्त किया था, अथवा फूलोंसे। मुझे तो अपने रोम-रोममें वे स्वयं ही सजे दिख रहे थे। आगेकी लीला अशब्द, अवाणी है। आपको तो सारी अनुभूतियाँ हैं। आप समझ लेंगे ही।

---

प्रसंग उन्नीस (१९)

# भाईजी ! आप पारसमणि हैं, आपके स्पर्शमात्रसे मैं लोहा, कुन्दन हो गया हूँ

रतनगढ़, मार्गशीर्ष मास
तिथि, संवत् उल्लेख नहीं

भाईजी ! आप प्रेम-सूर्य हैं। मैं तो आपकी मात्र एक अल्प-सी लघुतम किरण हूँ। आप प्रेम-वारिधि हैं, मैं तो आपकी एक शीतल फुहार-भर हूँ। आप अनन्त लीलामय, अनन्त रस-विलास हैं। आप प्रेमके पारसमणि हैं, आपके स्पर्श-मात्रसे मैं, लोह-खण्ड, कुन्दन हो गया। आपने मुझे बहुत ही विलक्षण निधि प्रदान कर दी। आत्मज्ञानीको सच्ची आत्मीयता आपके द्वारा प्राप्त हुई। आपने सर्वात्मा प्रियतम श्रीकृष्णसे मेरा अपनत्व करा दिया। अब तो मैं सचमुच, सर्वथा निरपेक्ष मस्त कलंदर हो गया हूँ।

भाईजी ! वे मेरे श्रीकृष्ण, कौन माता यशोदाके पास रहते हैं ? प्रभातमें निद्रा खुलते ही तो वे सखाओंके हो जाते हैं। मैया उनका मुख धोनेमें विलम्ब कर दे अथवा कलेवा (मक्खन तथा मिस्सी रोटी) देनेमें विलम्ब कर दे तो चिड़चिड़ा उठते हैं। उन्हें मैयाके दुःख-सुखकी चिन्ता नहीं, अपने लकुट-बाँसुरीकी अधिक चिन्ता रहती है। सखागण आये नहीं, कि वे भागे नहीं। मैया किसी प्रकार उनके हाथ-मुँह ही स्वच्छ कर पाती है, उनके सरसिज-वदनपर एक लोटा, सम-शीतोष्ण जल ही डाल पाती है कि उन्हें अपने सद्यजात वत्स-शिशुकी स्मृति विह्वल कर देती है। मैया उनकी मंगल-कामनासे उन्हें नारायण-मन्दिर तक किसी प्रकार ले जाती है, परन्तु उनका मन आज वनमें क्या क्रीड़ा-कौतुक होंगे – इसके विचारोंमें ही उलझा रहता है। उन्हें अपने मंगल-अमंगलकी परवाह ही कहाँ है ? उन्हें ऋषियोंसे स्वयंके स्वस्तिवाचनकी चिन्ता नहीं, शीघ्र गो-पूजन हो जाय, इसी धुनमें बाबाको खरिकमें खींच ले जानेकी चिन्ता ही सताये रहती है।

वनमें किसी अनिष्टकी चिन्ता मैया करती रहे, उन्हें तो अपनी छाकमें सखाओंके लिये इतनी सामग्री भेजनी है, यही रट लगी रहती है। मध्याह्नमें

सखाओंको कितने मिष्ठान्न, कितने स्वादिष्ट पक्वान्न खिलाये जायें, उनके मस्तिष्कमें लड्डू-पूरी ही भरे रहते हैं।

सायंकाल वन-चारणसे लौटते ही सखाओंको भूख लग गयी होगी, सायंकालीन व्यारूमें क्या-क्या सामग्री किस-किस सखाको रुचिकर लगेगी, इसीका अदेश, वे मैयाको देते रहते हैं और सखाओंको खिलाते-पिलाते ही उनके नेत्र निद्रासे झुकने लगते हैं। बस ! मैयासे कहानी सुननेकी स्वार्थ-पूर्त्तिके मध्य ही वे सो जाते हैं । अब भाईजी ! वे मैया यशोदा एवं नन्दजीके कहाँ हैं? वे तो सदा अपने ही रसके हैं। परन्तु नन्द-यशोदाने मात्र अपनत्वसे उन्हें नन्दनन्दन, यशोदानन्दन मान रखा है। गोपियोंके घरमें भी मात्र वे अपने मनोरंजन, माटे-बर्त्तन फोड़ने ही जाते हैं, बन्दर-कौओंको मक्खन लुटाना उनका कौतुक है। अपने घर मैयाका भय रहता है, अतः पराये घर मक्खन-लौंदे उछालना उनकी सर्वप्रिय क्रीड़ा है। फिर भी वे मात्र अपनत्वसे गोपी-प्राण हैं। उनकी प्रीतिने सखियोंको भी क्या दिया है ? कोई भी सखी मात्र उनकी आत्मीयताकी ही दीवानी है। भाईजी ! उनकी उस आत्मीयतासे आपने मुझे रोम-रोमसे भर दिया है। अतएव, वे मेरे सर्वाधिक प्रिय हैं। मैं तो उनके निरपेक्ष-प्रेमसे धनी होकर मस्त हूँ।

भाईजी ! चिड़िया दर्पणमें पड़े अपने प्रतिबिम्बको अपना प्रतिपक्षी मानकर उससे लड़ती है। छोटे बच्चे दर्पणमें पड़े अपने प्रतिबिम्बको अपना प्रतिपक्षी मानकर दूसरा बालक समझकर उससे खेलते हैं। भाईजी ! वह नीलश्याममणि मेरा बिम्ब ही तो है। चाहे मैं उसकी बिम्ब और वह मेरा प्रतिबिम्ब हो अथवा वह मेरा बिम्ब और मैं उसकी प्रतिबिम्ब होऊँ, बात तो एक ही है। भाईजी ! वह मेरा प्रतिबिम्ब-बिम्ब ही मेरा आत्मा-का-आत्मा, जीवन-का-जीवन, प्राणों-का-प्राण, प्रियतम होगया है। मैं उस अपने बिम्बसे ही नित्य खेलती रहती हूँ।

भाईजी ! मेरे भावदेहमें ही एकदिवस मुझे स्वप्न आया कि वे मुझे त्यागकर किसी अन्य देशकी यात्रापर चले गये हैं। वहाँ उन्होंने राज्यपद स्वीकारकर लाखों अपरिमित सुन्दरियोंसे विवाह कर लिये हैं। वे मुझे सर्वथा, सदैवके लिये पूरे विस्मृत कर गये हैं। परन्तु भाईजी ! वह सम्पूर्ण स्वप्न था तो मात्र मेरे हृदय-देशके रंगमंच पर ही। भाईजी ! वृन्दावनमें असंख्य पुष्प खिलते हैं और भ्रमर गुंजार करते एक पुष्पसे दूसरे, दूसरे से तीसरे, फिर चौथे, पाँचवें कितने ही पुष्पोंका रस ग्रहण करते हैं। क्या एक भी पुष्प, भ्रमरको हीन, हेय, निन्दनीय मानता है ? प्रीति तो अनन्त रूपोंमें ही प्रंकट होती है। भाईजी ! सूर्यकी असंख्य किरणें हैं। समुद्रमें अनन्त लहरें हैं। सूर्य क्या एक ही किरणका

अधिपति हो सकता है ? समुद्र तो सभी लहरोंको अपने जलसे आप्यायित करेगा ही। यमुना अनन्त-प्रवाहका ही तो नाम है। प्रीति भी अनन्त भावमयी रमणियोंमें विलसेगी ही। भाव सीमित, परिच्छिन्न, अल्प तो है नहीं। वह तो महावारिधि है। जिसका कहीं ओर-छोर ही नहीं। अतः वह अनन्त, असंख्य रमणियोंके अन्तःकरणोंमें विलसेगा ही तब ..... ? अनन्त रमणियोंके अन्तः भाव-भोक्ता प्रियतम सभीके ही तो होंगे ? भाईजी ! मेरे अन्तःकरणमें भी आपने प्रीतिके किसी भावांकुरको ही संबीजितकर पुष्पित-पल्लवित किया है और उस प्रीति भावके ही तो वे भोक्ता हुए मेरे दृश्य बने हैं। तब यहाँ-वहाँ चाहे वे विवाह करें अथवा बिना विवाह किये रसदान करें, सर्वत्र मेरा प्रेम ही तो विलस रहा है, लहरा रहा है।

भाईजी ! आपका 'गोपी-प्रेम' लेख पढ़कर तो निहाल ही हो गया हूँ। उसे प्रतिदिन अनेकों बार पढ़ता रहता हूँ।

राधा राधा राधा राधा

प्रसंग - बीस (२०)

# तुम मुझे इतना क्यों प्यार करते हो ? मैं तो तुम्हारी स्मृति भी नहीं कर पाती....

रतनगढ़
तिथि, संवत् कुछ भी उल्लेख नहीं

भाईजी ! आजकी भावना लिख रहा हूँ ।

वृन्दावनका ग्राम्य-गोष्ठ । दिनभरसे कार्य-व्यस्त हूँ। मेरा नाम मंजुलीला है। रसोई बनाना, घरके कपड़े धोना, घरमें झाड़ू लगाना। राधारानीका घर है। ठीक, इसी भावमें भावित रहता हूँ। गाय दुहना, गोशाला स्वच्छ करना, घर-परिवारकी सेवा-सुश्रूषामें दिवस व्यतीत हो जाता है। प्रियतम रानीके तो सर्वस्व हैं ही, परन्तु मुझे भी प्रेम करते हैं। दिन-रात उन्हींके स्वप्न देखती रहती हूँ। इधर यमुनाकी ओर, वनकी ओर गयी ही नहीं, फिर उनसे दो बातें भी कैसे होतीं ? काम-काजकी व्यस्ततामें उनकी विस्मृति भी हो ही जाती है। उनकी विस्मृतिसे अति ग्लानिसे गड़ जाती हूँ।

सायंकाल गोदोहनके समय सहसा एकान्त गोशालामें वे आगये। मैं गायें दुह रही थी कि पीछेसे उन्होंने मेरे नेत्र मूँद लिये। नेत्रों एवं कपोलोंपर उनके स्पर्शने, उनके अंगोंकी मधुरतम गन्धने ठीक अवगत करा दिया कि वे ही हैं। गोदोहन स्वतः ही स्थगित हो गया। उन्होंने असीम प्यारसे मुझे अपने वक्षस्थल से सटा लिया। वे अपने उपरैनासे मेरे मस्तकपर लगी गोरज झाड़ने लगे। मैंने उनसे पूछा – "प्रियतम ! तुम मुझे इतना क्यों प्यार करते हो ? मैं तो इतनी निकृष्ट, मलिन संस्कारोंसे भरी हूँ कि आपके सम्मुख नेत्र ऊँचा करने लायक भी नहीं हूँ। आपकी स्मृति भी गृह-कार्यमें छूट जाती है। शरीरसे तो गृह-परिजनकी सेवामें निरत हूँ ही, मन भी कामोंमें उलझे रहनेसे आपकी स्मृति त्याग, इधर-उधर न जाने कहाँ-कहाँ दौड़ लगाता रहता है। फिर तुम कैसे मुझे अपनी मानते हो, मेरी तो हीन-बुद्धि तुम्हारे प्यारको समझ ही नहीं पाती ?" प्रियतम मेरी बातको बहुत ही हलकी मानकर हँसने लगते हैं। बहुत ही प्यारसे वे मुझे अपनेसे सटा लेते हैं।

"बोलो, प्राणेश्वरी ! यह मेरी वनमाला, पीताम्बर तुम्हारी स्मृति करता है क्या ? मेरा कण्ठहार, बाजूबन्द कंकण, कटि-करधनी, कोई भी तेरी स्मृतिमें जब व्याकुल नहीं है, फिर भी तुम मेरी प्रिय हो, अपनी-की-अपनी हो, उसी प्रकार यदि तेरा मन इधर-उधर भटक जाता है, तो मैं तुमसे विरक्त क्यों हो जाऊँगा ? भला, मुझे बताओ, तुम तन-मन हो क्या ? मन तो मालाकी तरह मात्र शरीरका एक अवयव है ; तन तो साड़ी, चोलीकी तरह मात्र एक वस्त्र है। अब तुम मुझे स्नेह करते-करते जैसे इस वन-मालाको भी अपने नेत्रोंसे लगा लेती हो, मेरे पीताम्बर उपरैनामें अपना मुख छुपा लेती हो; वस्त्राभूषण तुम्हें सज्ञान अनुभवमें नहीं आते, फिर भी मेरे अंगी होनेसे वे तुम्हे "मैं" के रूपमें ही अनुभव होते हैं। इसी प्रकार तेरा तन-मन मेरे पास नहीं भी रहे, मुझसे पृथक् इधर-उधर-भटकता भी रहे, तब भी तुम मेरीकी मेरी अपनीकी अपनी हो, थी एवं रहोगी।"

अब तो दिवस-निशा यही भाव अतिशय सुदृढ़ होता जा रहा है कि सभी अवस्थाओंमें मैं उनकी ही हूँ। उनकी अनुपम अकथनीय, अचिन्त्य एवं अलौकिक मधुरातिमधुर आत्मीयतामें डूबी रहती हूँ। वे मेरे परमात्मीय हैं, मेरे सदैव साथ हैं, मुझ परमातिपरम नीचताकी प्रीतिमाको भी वे अपनी चरणधूलिसे कदापि पृथक् नहीं करेंगे। उनके नयनोंकी प्रीतिधारामें मैं सदैव डूबी रहती हूँ। भाईजी! जैसे मछलीके चारों ओर – ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दाँये-बायें, समुद्र-ही-समुद्र हैं, समुद्र एवं जल ही जैसे उसका जीवन-रस है, प्रियतमका प्रेम उसी तरह मेरा जीवन-रस है। सुन्दरी, सद्गुणी होनेसे ही वे मेरे हों, सो बात नहीं, मैं महा-कुरूपा, गुणहीना होऊँ, तब भी वे मेरे ही हैं।

राधा राधा राधा राधा

## प्रसंग - इक्कीस (२१)

# प्रीतिका धरातल

**रतनगढ़**
**तिथि, संवत् अज्ञात**

भाईजी ! आपको अनेक दिनोंसे पत्र लिख रहा हूँ। इतना लिखकर भी अपनी वास्तविक दशा आपको समझा सका या नहीं, कह नहीं सकता। आजकल तो विचित्र ही ढंग चल रहा है, क्या होगा, पता नहीं।

आज आपके सत्संगमें बैठा था। आप न जाने क्यों, संभवतः मुझे ही शिक्षा देने, कुछ बातें कह गये। आपकी बातोंको मैं सर्वाधिक महत्व देता ही हूँ, वे बातें मुझे कण्ठस्थ ही हो गयी हैं। आप कह रहे थे – "प्रेम वह धरातल है– जहाँ कोई जीव नहीं, कोई ईश्वर नहीं, कोई स्त्री नहीं, कोई पुरुष नहीं; कोई नायक नहीं, कोई नायिका नहीं, कोई रमणी नहीं, कोई रमण नहीं; कोई दाता नहीं, कोई दान-प्राप्तकर्त्ता नहीं, कोइ महान् नहीं, कोई हीन नहीं; कोई दयालु नहीं, कोई दीन नहीं; वहाँ तो मात्र प्रीति ही प्रीति है। प्रेम ही वहाँ धर्म है, प्रेम ही गुण-अवगुण, प्रेम ही जीवन है।"

चाहे इस आपके सत्संगके संस्कार हो सकते हैं, आज श्रीकृष्णके विलक्षण रूपमें दर्शन हुए। पूजामें बैठा "राधाकृष्ण" "राधाकृष्ण" जाप कर रहा था। अपने इष्टके चित्रपटपर मेरे नेत्र इकटक लग रहे थे। सहसा उनकी मूर्त्ति जीवन्त होकर सम्मुख बैठ गयी। आज वे सर्वथा शृंगारशून्य थे। उनके अंगोंमें मात्र एक साधारण-सा पीताम्बर था। वह ऐसी साधारण पीताम्बरी थी जैसी प्रायः ब्राह्मण लोग पहनकर आपके यहाँ पूजा, अनुष्ठान करने आते हैं। वे निराभूषण थे।

रत्नजटित मुकुट, कलाइयोंमें कुन्दनके केयूर, बाहुओंमें बाहुबन्ध, ग्रीवामें रत्नहार कुछ भी नहीं था। बस, वे मात्र एक मयूरका पिच्छ बालोंमें खौंसे थे तथा गलेमें गुञ्जा और वन-पुष्पोंकी माला मात्र थी।

मैंने उनसे जिज्ञासा की – "वल्लभ ! सब आभूषण कहाँ गये? स्वर्णजटित वेणु भी त्यागकर यह साधारण बाँसकी बाँसुरी ले ली, यह क्या हुआ ?"

वे मुसकाने लगे। मेरे बारम्बार प्रश्न करनेपर उन्होंने संक्षिप्त-सा उत्तर

दिया – "सब महिमा त्याग दी; महिमा प्रीतिमें बाधक है। महिमा कामना उत्पन्न करती है। अब मुझमें कोई महिमा नहीं है। मैं अकिंचन तुम्हारा हूँ। तुम भी अकिंचन, मैं भी अकिंचन। मेरा तुम्हारा प्रेम अब निर्बाध होगा।" मेरी आँखें आश्चर्यचकित थीं। वे अनन्त-ऐश्वर्य-निकेतन थे, क्या उन्होंने मेरे लिये ईश्वरत्व त्याग दिया ? वे अनन्त बल-निकेतन थे, परन्तु मेरे प्रेमको समादृत करने उन्होंने अपना समग्र बल, यश, ज्ञान, वैराग्य, धर्म, किनारे कर दिया ? अब वे परम अकिंचन, अतिं सुकुमार, सुन्दर, मधुर, मात्र मेरे नयनोंके भूषण हो रहे हैं। वे तो अनन्त-ज्ञान-सम्पन्न थे। परन्तु मेरी प्रीतिमें वे परिच्छिन्न मात्र तीन हाथके देश-कालान्तर्गत, दृश्य-रूप, देहाध्यासी हो गये ? उन्होंने वैराग्य त्यागकर मुझसे राग किया। वे अनन्त धर्म-यशके निकेतन थे, मेरे लिये वे जार-पदसे विभूषित होने जा रहे हैं ? मैं उमड़ पड़ी और उनसे लिपट गयी। वे अतिशय प्यारसे मुझे सहला रहे थे। वे कह रहे थे – "अब तो तुम्हारा प्रेम मेरा है और मेरा पूरा प्रेम तुम्हारा है। अब तुम मेरी प्रीतिकी एकमात्र स्वामिनी हो। कहीं कोई रुकावट नहीं, बाधा नहीं। गुण-दृष्टि बहुत बुरी है गुणाभिमान होनेपर ही अन्यमें अवगुण दृष्टि होती है। अब तुममें कोई श्लाघनीय गुण नहीं होनेसे भी मेरा तुमसे प्रेम एकरस-निरन्तर रहेगा। उसमें गुणोंका आधार ही नहीं। मात्र विशुद्ध प्रेम ही प्रेम है। अब तुम भी मुझसे प्रेमके अतिरिक्त कुछ भी अन्य चाह मत करना।"

भाईजी ! वे मेरे आँचल से खेलने लगे। उनकी आँखोंसे झर-झर प्रेमाश्रु गिर रहे थे। मैं बार-बार उनके अश्रु पोंछ रही थी।

वे फिर कहने लगे – "प्राणेश्वरी ! यदि तुम मुझसे धन चाहोगी, तो मैं मात्र गँवार ग्वारिया हूँ, यही समझना। यदि तुम मुझसे मुक्ति चाहोगी, तो मैं स्वयं ही प्रीतिबंधनसे बँधा हूँ। यदि तुम मुझसे सौन्दर्य चाहोगी, तो मैं काला-कलूटा हूँ, यदि तुम मुझसे माधुर्य माँगोगी, तो मेरा स्वभावही अति निष्ठुर, स्वार्थी है। यदि तुम मुझसे उत्तम कर्म चाहोगी, तो मैं चोर-जार हूँ। यदि तुम मुझसे त्याग चाहोगी, तो मैं भोगी-शिरोमणि हूँ। यदि तुम मुझसे मन चाहती हो, तो मैं परम चंचल मनका हूँ – कभी किसी एकका न रहा, न रहूँगा। यदि तुम मुझसे धर्म चाहती हो, तो मेरा जन्म ही निम्नकुलके गोपोंमें हुआ है। तुम मुझसे उत्तम वैराग्य चाहोगी, तो मेरे पास राग, भोग एवं श्रृंगार ही हैं। यदि तुम मुझसे उत्तम लोक चाहती हो, तो मैं वन-वन डोलता फिरता हूँ, करीलके कुंज मेरे निवास हैं, मैं घासके बीहड़ोंमें गायें चराता फिरता हूँ। यदि तुम मुझसे सिद्धि चाहती हो, तो मेरा तो व्रत ही है कि जो मेरी आशा करता है, उसका मैं सर्वनाश कर

देता हूँ। यशोदा मैया मुझे अनेक दोषोंकी प्रतिमूर्त्ति ही मानती हैं। मुझमें अनगिनती दोष हैं। मैं कृतघ्न भी हूँ। बलिने मुझे सर्वस्वदान कर दिया, किन्तु मैंने उसे श्री-हीन करके नाग-पाशसे बाँध दिया। पिता-माताकी जन्म लेनेके पूर्वकी सात सन्तानें, मैंने मरवादीं। जन्म लेकर महात्मा नन्दरायके यहाँ लालन-पालन कराने आया तो उनकी सद्यः जात कन्याका बधिक बना। असत्यका आश्रय लेकर इन भोले-भाले गोपोंका पुत्र बनकर लालित-पालित हुआ, और ज्योंही पंख उगे, उन्हें त्यागकर चला गया और उनकी ओर दृष्टि भी नहीं की। मेरा चरित्र तो भोले माता-पिताकी भी वंचना करनेवाला रहा है। बोलो प्रिये ! तुम मुझसे क्या आशा लेकर उलझ रही हो ?

मैं मेरे प्रियतमकी भोली बातें सुनकर उनके कंठसे लग गयी। "बस, कह चुके, मुझे भी जो पीड़ा देनी हो, दे लेना। मैं तुम्हारी सब पीड़ाओंको तुम्हारा ही स्वरूप मानकर प्यार कर लूँगी। यही उनको मेरा उत्तर था।

भाईजी ! यदि मुझे विद्याकी चाह होती, तो मैं विद्याधरों अथवा विद्याकी अधिदेवी महासरस्वतीकी उपासना करता। यदि मुझे योगसिद्धियोंकी चाह होती, तो मेरा झुकाव निश्चय ही योग-मार्गकी ओर ही होता। परन्तु मुझे तो मुझ जैसा परम अकिंचन दीन-जनोंका स्वामी हेतु-रहित प्रीतिविग्रह मोर-मुकुटी ही सर्वप्रिय है। यदि मैं उन्हें अनंत लक्ष्मियोंका पति मानता, उनके पास अनन्त सौन्दर्य है, माधुर्य है, उनके पास अनन्त गुणावली, यश है, बल है, वीर्य है, अनन्त सत्ता है – यह समझकर उनके प्रति लुब्ध होता तो भाईजी क्या लोभ प्रीति हो सकता है ? कदापि नहीं। लोभका प्रतिफल तो लोभ ही होता, वे भी मुझपर किसी लोभसे ही लुब्ध होते। फिर मुझ सर्व-साधनहीनके पास उन राज-राजेश्वरको देनेके लिये क्या होता ? यदि किन्हीं गुणोंकी शृंखलाके प्रति आकृष्ट होकर कोई किसीसे प्रेम करता है, तो काम-मल निर्मल प्रेमका नाश ही कर देता है। अतः आपके द्वारा मुझे ऐसे विलक्षण प्रेम एवं प्रेमीके दर्शन हुए हैं, जहाँ गुण-दृष्टि हमारे मध्य-पार्श्वसे भी नहीं फटकती। यदि वे किसी भी सत्कर्म, सदाचार, साधन, तप, जप, ध्यान, धारणा, समाधिसे मेरे होते, तो इन कर्मोंके नहीं होनेपर मेरा उनका प्रेम ही क्षय हो जाता। मैंने तो मेरे प्राण-जीवनका प्यार बिना मोलके पाया है, इसीलिये वह अनमोल है। वे मुझ निर्बलको निस्साधन आपने दिये हैं। यदि वे किसी भाग्यबल, उत्तम प्रारब्धसे मिले होते, तो प्रारब्धक्षय उनका भी क्षय कर देता। मेरा उनका ममत्व नित्य, अखण्ड-सत्य है। इस ममत्वमें कोई गुणावली कभी उद्दीपन नहीं करती और कोई दुर्बलता बाधक नहीं होती। जो गुणोंका हेतु रखता है। वह अवगुणोंसे मिट जाता है। जो

किसी भी हेतुसे जन्मता है वह हेतुके अधिक एवं न्यून होनेपर अधिक, न्यून होता है और हेतुके मिटते ही मिट जाता है। मेरा उनका प्रेम जन्मने-मरनेवाला कदापि नहीं है। मेरे प्रति उनके प्रेममें न जन्म है, न क्षय है, वह मात्र अभिवर्धनशील है। यही उसका नित्य-सिद्ध स्वभाव है। उनके अतिरिक्त मेरी उनसे कहीं कभी, कोई कामना न थी, न ही है, न होगी। उनके सिवा मुझे अन्य कुछ भी नहीं चाहिये। यही मेरे उनके प्रेमका धरातल है।

राधा राधा राधा राधा

प्रसंग - २२ (बाईस)

# प्रेम-देशकी ओर

रतनगढ
तिथि, संवत् अज्ञात

उस दिन भागुरि ऋषि रानीके अखण्ड सुहागके लिये यज्ञ करा रहे थे। रानीके संकेतसे मुझे यमुनाजल लाना था। जल तो वस्तुतः रानीको स्वयं ही लाना चाहिये था, परन्तु महर्षिने रानीसे मुझे अतिशय एकात्म मानकर, मुझे ही जल लानेकी आज्ञा दे दी। मैं दौड़ती-फुदकती स्वर्ण-गगरी एवं ईंडुरी लिये यमुना तट आगयी। जल लानेके पूर्व स्नान करना आवश्यक था और सचैल वस्त्रसे ही जल लेकर यज्ञमण्डप तक जाना था।

उस दिन यमुना घाट पर विलक्षण शोभा एवं सौन्दर्य नर्त्तन कर रहा था। मैं वाणी द्वारा उस शोभाका वर्णन ही नही कर सकती। ज्योंही स्नानार्थ यमुनाकी वन्दना कर जलमें प्रवेश करने लगी कि सम्मुख आम्रवृक्षपर बैठा एक पक्षी बोल उठा – "प्रियतम ! प्रियतम !! प्रियतम !!! मैं समझ गयी प्राणपति यहीं कहीं आर्श्व-पार्श्वमें हैं। अहा ! जब वे आर्श्व-पार्श्वमें ही होते हैं, तो प्रकृतिको न-जाने क्या हो जाता है ? चतुर्दिक् वातावरणमें प्रीति निरवगुंठित हो उठती है।

सहसा, वे थोड़ी ही दूरीपर पारिजात-पुष्पकी कुंजसे निकलते मुझे दृष्टिगोचर हो गये। उन्हें ज्योंही देखा, ऐसा अनुभव हुआ मानों सम्पूर्ण आनन्द एवं शोभा इन पर न्यौछावर कर दूँ। वे इतने सुन्दर, इतने मधुर, इतने रसमय थे कि इन्द्रियोंमें उनको भोगनेकी सामर्थ्य ही नहीं थी। नेत्र तो उनके सौन्दर्यकी छायासे ही छक गये। नेत्र चंचलता तभी व्यक्त करते हैं जब अतृप्त रहते हैं। बाहर दृश्यमें उन्हें तृप्तिका सुख मिलता जो नहीं। वहाँ प्रियतमके सौन्दर्यने तो उन्हें ऐसा छककर तृप्त किया, कि वे रसमें पूरे डूब गये।

मैं रूप, गुण, एवं सौकुमार्य, शील, सबसे हीन उन्हें क्या समर्पित करती? वे मुझ कुरूपाको भी अपनेसे एक करनेका सुखमय संकेत कर रहे थे।

मैं सकुचाती, किसी प्रकार उनको निषेधकर जल लेकर गृह आ पायी। परन्तु, अब तो मेरी सभी इन्द्रियाँ, मन-बुद्धि मुझसे विद्रोह कर रही हैं। अहंकार

उनके चरणोंमें लुट पड़नेको व्याकुलताकी सीमा लाँघ रहा है।

रानीके चरणोंमें गिरकर जब हाहाकार-भरे स्वरमें मैंने सम्पूर्ण आख्यान कहा और रुदन करने लगी, तो रानी हँसने लगी। वे कह रही थीं -

"बहिन मंजु ! लहरका समुद्रमें विलीन हो जाना ही तो उसका साफल्य है। किरणका सूर्यके अथाह तेजमें एकत्व ही तो उसकी सार्थकता है। मंजु ! हम हैं क्या ? मात्र उन महाप्रीति-सागर प्रियतमकी लहरें ही तो हैं । मैं एवं तू - हम सभीका उन प्रेमोदधिमें लहराना ही तो केलि है, लीलाविलास है।"

"बहिन मंजु ! विषधर भुजंग दंश करता है, तो अपने विषकी फुहारें मात्र शरीरके एक भागमें ही प्रवेश कराता है। यह साँवरा भुजंग तो अपनी सभी इन्द्रियोंसे प्रेमकी फुहारें बरसाता है। उसके प्रेमामृतकी फुहारें इन्द्रियोंके द्वारोंसे तनके रोम-रोम, नस-नसमें घुल जाती हैं। अरी बहिन ! वह मयूर-मुकुटी ज्यों ही किसीके अंगका स्पर्श कर ले, विद्युद्धारावत् उसका प्रेमामृत, स्पर्श किये व्यक्तित्वके समग्र अस्तित्वको ही अपनेमें एककर लेता है। फिर उसका प्रेमामृत और वह स्वयं दो भिन्न सत्ता तो हैं ही नहीं। अतः इन्द्रियोंके द्वारसे वह स्वयं पूरे अन्तःकरणमें व्याप्त हो जाता है। बहिन ! इससे अधिक और क्या कहूँ, उसने इस तेरे-मेरे कलेवरको अपना रहने ही कहाँ दिया है ? हम सभी जब उसकी ही हो गयीं तो हमारे ये जड़-कलेवर मात्र उसकी रुचिपर थिरकनेवाले यंत्र ही तो हैं। वे इन अपने कलेवरोंसे जो जी चाहें खेल करें। वे अब हमें चाहे कुलतारिणी, महासती-साध्वीकी उपाधिसे भूषित करें, अथवा कुलकलंकिनी पद दें; इस तनको वियोगकी ज्वालामें जलावें अथवा संयोग सुखसे आप्यायित कर दें। वे पूरी मन-मानी करें, भला उनका वर्जन कौन करे ? कहीं कोई मेरी पृथक् सत्ता हो, तो बहिन, मैं उन्हें वर्जित करूँ।

"बहिन मंजू ! यदि हमें वह नीलचन्द्र कुलकलंकिनी स्थापित कर देगा, तो कुल-धर्म-शील-सम्पन्न लोग हमें घृणा करके त्याग देंगे। हम चरित्रहीना दुश्शीला होंगी, तो सदाचारी चरित्राभिमानी लोग हमें अपनी जातिसे पृथक कर देंगे। हम असती हैं, तो सतीगणोंमें हम समादृत नहीं हो पावेंगी। यदि हम अधार्मिक होंगी, तो धर्मात्माओंमें हमारा प्रवेश निषिद्ध होगा। यदि हम उत्तम शीलसे युक्त नहीं हैं, तो हमें सम्भ्रान्त जाति-कुल-शीलवाले लोग नहीं अपनायेंगे। परन्तु हमारे हृदयमें यदि उनके प्रति प्रियता है, तो वे हमें त्यागेंगे नहीं। और हमें तो मात्र उनसे ही प्रयोजन है। अन्यसे हमारा क्या लेना-देना ? उनसे एकत्व ही तो मेरे, तेरे अस्तित्वकी चरम एवं परम कृतकृत्यता है।"

रानीके इस उपदेशका मैं क्या उत्तर देती ?

---

## प्रसंग - २३ (तेईस)

# पुष्प चयन

रतनगढ़

**तिथि - अज्ञात**

एक दिवस रानीने कहा – "मंजू री ! पूजाके लिये दो-पाँच फूल तोड़ ला। मैं पुष्प-चयन करनेके लिये वनमें ज्योंही प्रविष्ट हुई, कि किसी अज्ञात दिशासे कोई अत्यंत मधुर-स्वरमें बोला – "मंजू ! सावधान ! इस वनमें जो फूल तोड़ता है, उसके तन-मन-जीवन-यौवनपर मेरा अधिकार हो जाता है; वह मेरी सम्पति बन जाती है।" मैं चौंकी । मुझे वृषभानुबाबाकी पुत्रीने पुष्प-चयनके लिये भेजा था। कड़ककर बोली – "तुम रोकने वाले कौन हो ?" परन्तु मेरे प्रति उत्तरमें अति मृदु हँसी ही सुनाई पड़ी। पुनः वे ही शब्द उच्चारित हुए "अरी ! मुझे देखने-भरसे सबकुछ लुट जायेगा। अतः मुझे नहीं देखनेमें ही लाभ है। परन्तु स्मरण रखना, पुष्प-चयन किया, तो मुझे ही सर्वस्व समर्पण करना होगा।" रानीको बहुत विलम्ब हो रहा था, अतः बिना किसी परवाहके मैंने पुष्प-चयन कर लिये और आँचलमें बाँधकर ले चली। फिर वहीं मधुर हँसी मेरे कानोंमें अमृत घोल गयी। मैंने सारा वृत्तांत रानीको सुनाया। "बहिन क्या बताऊँ ! मैं महाकुरूपा हूँ, परन्तु सब सौन्दर्य तो उनके प्रीति-दृगोंमें ही वास करता है। उनके नेत्रोंमें मेरे प्रति प्रीति होनेसे उन्हें मेरे रोम-रोममें सुन्दरता ही सुन्दरता दृष्टिगोचर होती है। फिर उनके तो, वे और प्रेम दो वस्तुएँ भी तो नहीं हैं। उनकी दृष्टि पड़ते ही वन शोभाका आगार हो उठता है; यमुना प्रेमामृत-प्रवाहिनी बन जाती है; यमुना-तटकी रेणुरजतचूर्णकी तरह सुन्दर और परागके समान सुकोमल हो उठती है। वनमें अगणित पुष्प विकसित हैं, परन्तु उनका सभी सौन्दर्य, सब सुगन्धि मात्र उनकी प्रीतिभरी दृष्टि-निक्षेपका ही फल है।

"उनके चरणोंके संस्पर्शसे ही तो पृथ्वीमें सुगन्ध-नामक गुण उत्पन्न हुआ है। उनके प्राणोंका संस्पर्श पाकर ग्रीष्मकालमें भी वायु सुशीतल रहती है। वे जब वनचारणको चलते हैं, तो आकाश शोभाधाम हो उठता है। उनके अंगोंकी श्यामाभा ही पयोधरोंको श्याम-सुरंग से रंजित कर देती है। उनकी वाणी सुन-सुनकर पक्षीगण अपने कलरवमें प्रीति ही प्रीति अप्यायित कर लेते हैं। भास्करके तेजोमण्डलसे अमृत वर्षा होना उनकी विमल दृष्टिका ही चमत्कार है।"

"बहिन ! अब तो मुझपर मेरा वश ही नहीं। मैं उन्मादिनी रस-सरिताकी तरह उनसे मिलनातुर हो रही हूँ। अरी सखी ! मैं जैसे ही विश्राम करने अपने

नेत्र मूँदती हूँ, यह प्रीति-सम्पदा मेरे हृदय-देशमें भरी दृष्टिगोचर होती है. ऐसा लगता है, मानों अनन्त जन्मोंसे मैं इसीकी आराधना कर रही होऊँ। हृदय मचल-मचल उठता है। इसे नयनोंमें अंजनकी तरह आँज लूँ अथवा हृदयमें हारकी तरह धारण कर लूँ किंवा अपने ललाटका सौभाग्य-तिलक बना लूँ।"

"बार-बार यमुना-घाटपर आती हूँ। यमुना-जलके स्थान पर मेरे हृदय-घटमें यही नीली प्रीतिधारा भर लाती हूँ। घरके परिजन मुझे रीता घट लेकर यमुनासे लौटते देखकर अशकुन मान रुष्ट होते हैं, परन्तु उन्हें कौन समझाये कि मंगलों-का-मंगल करनेवाला यह साँवरा मेरे साथ-साथ ही उनके घरमें प्रविष्ट हो गया है।

"बहिन री! चाहे मैं गृहकार्यमें लगी रहूँ, चाहे गृहपति, सास-ससुर, देवर एवं ननदोंसे घिरी रहूँ, चाहे पीहरमें माता-पिता, बहिन-भाइयोंके मध्य रहूँ, यह मेरा साँवरा जीवनधन एक क्षण भी मुझे नहीं छोड़ता। यह मेरे चतुर्दिक् घूमता रहता है। ज्योंही एकान्त हुआ – मुझसे तन सटाकर मेरी गोदमें सिर रखकर लेट जाता है। यह कैसे होता है, पता नहीं। परन्तु, यह चाहे मुझसे आलिंगित ही रहे, इसे दूसरा कोई देख नहीं पाता। बस, मेरे नेत्र ही इसे देख पाते हैं। यह मुझसे वार्त्तालाप करता रहेगा तो दूसरे सुन नहीं पाते। मैं उससे हँसती हूँ, बोलती हूँ, लोग मुझे 'सिरफिरी' कहते हैं। परन्तु जिसको जो कहना हो, कहे। मुझे किसीसे क्या लेना-देना ?

"सखि री, कोई यही अर्थ तो समझेगा कि मैं मेरे हृदयहारसे मानसिक दिवा-स्वप्नका संबंध जोड़े हूँ। ऐसा समझनेवाला भले ही ऐसा समझे। मुझे अन्य किसीसे प्रयोजन ही क्या है ? यह नन्द-पुत्र तो मेरे तन-मन एवं इन्द्रियोंका प्रत्यक्ष है ही। यह मेरे प्राणोंका प्राण, आत्माका आत्मा, मेरे कलेजेकी कोर है। यह मेरी सर्वेन्द्रियोंका एकछत्र स्वामी है। इतना अवश्य है, कि इसकी सत्ताका प्रमाण मैं द्वितीयको नहीं दे सकती।

"अरी बहिन ! इस प्रेममणिका मुकुट प्रेम है, इसकी अलकें प्रेम हैं और इसकी पलकें भी प्रेम ही हैं। इसकी भौंहें प्रेम हैं, तिलक प्रेम है, नयन, कपोल, नासिका, अधर, ग्रीवा, वक्ष, बाहु, उदर, नाभि सभी अंग मात्र प्रेम ही प्रेम हैं। यह प्रीतिका उदधि है।

"आओ बहिन ! चलें उस प्रेमदेशकी ओर -- जहाँ कदम्बके नीचे यह प्रीतिवपु ललित-त्रिभंग मुद्रामें खड़ा है, मुसका-मुसकाकर जो सम्पूर्ण विश्वके कण-कणमें अपनी प्रीतिका मधु घोल रहा है, समग्र अस्तित्वको ही, जो अपनी प्रीति रसधारामें डुबो रहा है।"

---

### प्रसंग · चौबीस (२४)

# कैसे धैर्य रखूँ

**रतनगढ़**
**तिथि, संवत् अज्ञात**

बहिन री ! वे प्रीतिके उन्मादमें भरे यमुनाके किनारे-किनारे डोलते हैं और यमुना प्रेमोन्मादमें भरी, सुख-सौभाग्यमें प्रफुल्लित हो, उफन उठती है। वे जब प्रेममें छलकते घटके समान निज नेत्रोंसे वृन्दावनकी लता-वल्लरियोंको निहारते हैं, तो वृन्दावन प्रेमोन्मादमें भरा अगणित सुवासित पुष्पोंसे लद जाता है। प्रेमोद्दीपनसे भ्रमर प्रमत्त हो उठते हैं, मयूर नृत्यमें झूम उठते हैं, चातक, कोकिलगण पिहू-पिहूकी ध्वनिसे समग्र वनको मुखरित कर उठते हैं।

बहिन री ! जब सम्पूर्ण वनही उनके प्रेमसे प्रफुल्ल हो उठता है, गिरिराजके प्रस्तर खण्डोंसे रसामृतके स्रोत फूट पड़ते हैं, सम्पूर्ण गिरिराज स्वयं मसृण हो पुष्पदलोंकी तरह सुकोमल हो उठता है, आकाश झुक जाता है, वायु मन्द सुगन्धित एवं सुशीतल हो उठती है, यमुना स्थिर हो जाती है, पुष्पहाससे वन प्रमुदित हो उठता है, तो मैं अबला कैसे धैर्य रख पाऊँ री ? मेरा रोम-रोम उनसे मिलनेको व्याकुल हो उठे, उसमें आश्चर्य ही क्या है ? सखि री ! वे मूर्त्तिमान प्रेम हैं।

उनके नेत्रोंमें सौन्दर्यका समुद्र भरा है। उनके अधरोंमें रसका सागर लबालब छलक रहा है। उनकी अलकावलि प्रेमकी घटायें हैं। उनका वक्षस्थल शोभाका धाम है। उनके चरण प्रीतिके निर्झर हैं। फिर कौन कामिनी उनसे मिलनमें धैर्य रख सकेगी ?

बहिन ! उमड़ते घनको देखकर मयूरी क्यों नाच उठती है – कोई उसे क्या निषेध कर सकता है। स्वाति-जल पानके लिये चातक क्यों तृष्णातुर है। क्या कोई भी उसे प्रतिबाधित कर सकता है ? यमुना सागरसे मिलनको क्यों उमड़ी जा रही है – क्या उसे कोई रोकेगा ? बहिन मेरी ! सुख-समुद्रमें बाँध कैसे संभव है ?

देख री ! कोई-न-कोई ऐसा अवश्यंभावी कारण है, जिससे मयूर नृत्य कर रहे हैं, कोकिलाएँ, चातक कूजन कर रहे हैं, मेघ बरस रहे हैं, अम्भोज

विकसित हो रहे हैं, वासन्ती लतायें पुष्पभारसे लदी झुक रही हैं, राका अमृत ज्योत्स्नासे धराको नहला रहा है, क्या वह कारण प्रीति नहीं है ?

देख री ! वे पुष्पोंसे लदे कदम्ब-वृक्षके नीचे खड़े हैं। वे भ्रू-संकेतसे मुझे बुला रहे हैं, उनके अंगों-अंगोंसे कैसी निर्मल श्यामाभा निकल रही है ? आओ न, इस रूप-महोदधिसे उद्भूत निरुपम रूपसुधाका नयन-प्यालोंमें भर-भरकर पान करें।

अरी सखि ! विधाताने मुझे नेत्र दिये ही हैं – उन्हें देखनेके लिये, फिर मेरे नेत्र उन पर मुग्ध होते हैं और उनका रूप मेरे नेत्रोंमें बस जानेको व्याकुल हो रहा है, तो इसमें निषिद्ध ही क्या है ? जब उनका निर्माण ही मात्र मेरे लिये, और मेरा निर्माण ही मात्र उनके लिये हुआ है तो विश्वमें कहीं कोई दीवार ही नहीं है, जो उनके एवं मेरे मध्य खींची जा सके। मेरा उनसे मिलन विश्वकी कोई शक्ति रोक नहीं सकती। मैं उनकी, उनकी, उनकी रहूँगी और वे मेरे, मेरे मात्र मेरे ही रहेंगे।

राधा राधा राधा राधा

---

प्रसंग - पच्चीस (२५)

# मेरे जाग्रत एवं स्वप्नको ही नहीं, वे अपने आलिंगनसे मेरी निद्राको भी लिपटाये रखते हैं।

**रतनगढ़**
**तिथि, संवत् उल्लेख नहीं**

भाईजी ! मुझे पता नहीं, वे मेरे मन हैं, बुद्धि-विलास हैं, कल्पनाके गन्धर्वनगर हैं, कल्पना हैं, परमात्मा हैं, सत्य हैं, असत्य हैं, भ्रम हैं, भावुकता हैं, पागलपन हैं, चेतना हैं, स्वप्न हैं, दंभ हैं, ब्रह्म हैं, माया हैं, ज्ञान हैं, अज्ञान हैं, मेरी साधनाकी निम्न-दशा हैं, अथवा उत्तमोत्तम-दशा हैं, मेरी वासना हैं, मेरा उत्थान हैं, पतन हैं अथवा मेरा अहंकार हैं। मेरे पास उन्हें परखने, जाँचनेकी न बुद्धि है, न ही विद्या है। मुझे ऐसा अनुभव भी नहीं है कि शास्त्र एवं तत्वकी कसौटीपर उन्हें खरा उतार पाऊँ। इतनी जाँच-परख करनेकी मैं आवश्यकता भी नहीं समझती।

इतना अवश्य कह सकती हूँ, अबतक जो कुछ मैं थी, उसके स्थानपर अब वे हैं। जबतक मैं थी, तबतक मैं मलिन पंचभूतोंका मात्र पिण्ड ही थी, उस पिण्डमें असंख्य विकार थे, तुच्छताएँ थीं, भय था, अज्ञान था, चिन्तायें थीं, मृत्यु थी, रोग थे, कामनाएँ-ही-कामनाएँ भरी थीं; किन्तु अब तो भाईजी, वह सब तो थूक , कफकी तरह फिँक गया।

अब मेरा तन प्रियतम, मन प्रियतम, मेरे प्राण प्रियतम, मेरे गुण प्रियतम, मेरा सौन्दय-ही-प्रियतम है। मेरा लोक, परलोक, कर्म, स्वभाव, प्रकृति सब वे ही वे हैं। वे मेरे विश्व बन गये हैं। अनन्त स्वर्ग, नरक, पृथ्वी, पाताल, ब्रह्मलोक, सिद्धलोक, अनन्त देवी-देवता, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, किन्नर, मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज कितनी योनियाँ उन्होंने ग्रहण कर ली हैं। अनन्त देशोंमें, अनन्त रूपोंमें, अनन्त भावों, कर्म संस्कारोंको लिये वे जन्म रहे हैं, मर रहे हैं, मैं उन्हें सभी अवस्थाओंमें देखती हूँ, पहचानती हूँ और ज्यों ही वे मुझे अवसर देते हैं, मैं उन्हें प्रेमामृतसे सराबोर कर देती हूँ। चुपचाप बिना कहे, बिना जताये, मेरा विभु प्यार, उनके पीछे अनन्तदेश,

अनन्तकालकी निर्बाध यात्रा कर रहा है।

भाईजी ! वे मुझसे बोलते हैं और आपकी महिमाकी बातें बतलाते हैं। एक दिवस वे आपकी महिमा बतलाते कह रहे थे – "प्रिये ! इसे सर्वांशमें सत्य समझलेना – इसमें तनिक भी मीन-मेख मत करना – मेरे शब्द-शब्द सत्यके सत्य, परम सत्य हैं। यदि किसीको देवताका आवेश हो जाय तो बाहरी रूपसे चाहे वह तुम्हें दिखे कि अमुक व्यक्ति भोजन कर रहा है, परन्तु आन्तरिक रूपसे वह देवता ही उसमें खाता-पीता, व्यवहार करता है। यह तो मैंने साधारण आवेशकी ही बात कही है, इस हनुमानप्रसाद-सत्तासे तो मैं एक हो चुका हूँ। अब चाहे दिखे कुछ भी, हूँ तो इसके भीतर पूर्णरूपसे मैं ही। इसके नेत्रोंसे कभी मैं और कभी मेरी प्रिया राधारानी देखती हैं, इसके कानोंसे हम ही रस ग्रहण करते हैं। और तो क्या कहूँ, जैसे प्रद्युम्नादि मेरी सन्तान हैं, इसी प्रकार इसकी पुत्री सावित्री भी सर्वथा-सर्वांशमें मेरी ही सन्तान है। क्योंकि इस बालिकाके गर्भाधानके समय नारायणावेश में मैं ही इस हनुमानप्रसाद-रूप कलेवरमें पूर्णतया आविष्ट था। यह तो कभीका मुझमें पूर्णतया विलीन हो चुका था। सिन्धुमें बिन्दुके मिल जाने पर क्या फिर वह बिन्दु पुनः निकाली जा सकती है ? कदापि नहीं, अतः यह क्रोध करता है, तो उस क्रियाको मेरी ही शत-प्रतिशत क्रिया मानना। इसको मैं सोते, जागते, स्वप्न लेते एक क्षणके लिये भी नहीं त्यागता, क्योंकि इसकी सत्ता, मात्र मेरी ही सत्ता है। हाँ, जब मुझे अन्तर्धान-लीला करनी होगी, तभी इसका त्याग करूँगा और उस दिन लोग यही समझेंगे, हनुमानप्रसाद नित्य लीला-धाममें प्रविष्ट हो गया। जबकि वह लीलाधाम-प्रवेश मेरा होगा। यह तो अभी भी सर्वांशमें लीलाधाममें मेरा लीलापात्र बना मेरी सेवा कर रहा है।"

"तू मुझसे पूछेगी कि इसने ऐसा कौनसा तप, साधन किया कि मैंने इसके तनको इस प्रकार अपना धाम बना लिया ? तो ठीक समझले, मैं किसीके भी बाह्य-साधनसे सर्वथा विक्रीत नहीं होता। जब मैं कालियनागके फनोंको अपनी नृत्य-स्थली बना लेता हूँ, जब अघासुरकी विशाल अजगर-देहको अपनी क्रीड़ा-स्थली, लीला-भूमि बना सकता हूँ, जब गोवर्धन-जैसे साधारण प्रस्तर-समूहको अपना छत्र बना सकता हूँ, जब मैं पूतनाके कालकूट-समावृत स्तनोंको अमृत-गोद बनाकर उसपर खेल सकता हूँ, जब भीलनीके उच्छिष्ट बेर अपना भोग बना सकता हूँ, तो मैंने इस मेरे परम प्रेमीके हृदयको भी अपनी रंगभूमि बनाली, मेरी मौज है। इसमें साधनगत योग्यता सर्वथा हेतु नहीं, अंतर्हृदयकी चाह ही मात्र हेतु है। अब तो सब शोभाओंकी अधिदेवियाँ इसके

हृदयमें आनेको ललचाती हैं, सभी लक्ष्मियाँ वहीं निवास करती है, जहाँ मैं रहता हूँ।"

"प्रिये ! देवता उपासनासे प्राप्त होते हैं, दुर्लभ गतियोंके लिये दुस्तर तपकी अपेक्षा है, मैं तो मात्र पुकारनेसे स्मरण-मात्रसे मिल जाता हूँ। हाँ, वह मेरा मिलन किसीके अनुभवमें आवे, या नहीं आवे, यह दूसरी बात है। जब मैं प्रेमसे पुकारने-मात्रसे द्रौपदीके अधोवस्त्र बन सकता हूँ, तो क्या प्रेमी हनुमानप्रसादके तनको पीताम्बरवत् मैं अपना कलेवर नहीं बना सकता ? जब मैं उत्तराके गर्भमें प्रवेश कर सकता हूँ, तो इसके अन्तःकरणको व्रजभूमि बनाना कौन कठिन कार्य है। ?"

भाईजी ! श्रीकृष्ण-जैसा प्रेमी तो ***न भूतो न भविष्यति,*** कभी होनेवाला ही नहीं है। आजके दिवसकी लीला आपको सुना रहा हूँ – वे मुझे अंकमें धारण किये विश्राम कर रहे थे। निकुञ्जमें मात्र हम दो ही थे। वे अतिशय प्यारसे मुझसे कहते हैं – "प्राणेश्वरी ! तुम सो जाओ।" मेरे नेत्र उनके प्रेममें छके हैं। विश्रान्तिमें नेत्र मुँदते हैं, परन्तु मैं उन्हें खोले रखती हूँ कि कहीं निद्रागत विस्मृतिमें वे मुझसे दूर नहीं चले जावें।

वे मेरे हृदयमें उठे भावको जान लेते हैं। वे बहुत ही दुलारसे अपने वक्षस्थलसे मुझे सटा लेते है, एवं कहते हैं – "मेरी रानी ! मुझे मात्र अपनी जाग्रतिका ही संगी क्यों मानती हो, मैं तो तेरी निद्राको भी अपने आलिंगनमें लिपटाये रखता हूँ। निर्भय, निस्संकोच सो ही जा।"

भाईजी तभीसे न-जाने उन्होंने क्या कर दिया है कि मेरी सभी अवस्थायें उनके आलिंगनमें लिपटी रहती हैं। मेरे सभी स्वप्न उनसे भरे रहते हैं। सुषुप्ति तो पूरी उनकी गोदमें ही बीतती है।

मेरी जिधर दृष्टि जाती है, उनका रूप नेत्रोंके दृश्यको अपनेमें लिपटाये रखता है। मैं जो भी शब्द सुनूँ, प्रत्येक शब्द उनकी वाणीकी मधुरतासे ओत-प्रोत रहता है। प्रत्येक गंधमें उनकी सुवास भरी रहती है। प्रत्येक स्पर्शमें उनका अंग-स्पर्श छलक उठता है।

भाईजी ! मैं अपनी अनुभूतिको शब्द नहीं दे पाती, परन्तु कैसे समझाऊँ, मैं स्नान करती हूँ तो जलमें वे तरलता बने मुझे नहलाते हैं, मैं वस्त्र पहनती हूँ तो वस्त्रके सूत-सूतमें वे ओत-प्रोत हो जाते हैं एवं मुझसे लिपट जाते हैं।

उनके प्रेमकी किन-किन बातोंको गिनाऊँ, वे मेरे स्वप्नोंमें तो समाये रहते ही हैं, उनके अपने स्वप्नों एवं मनोरथोंमें भी मुझे-भरे रहते हैं। वे अपने स्वप्नोंकी बात प्रायः सुनाते हैं और हँसते हुए कहते हैं – "जब तू प्रत्येक स्वप्नमें मेरे साथ रहती है, तो तेरेसे वियोग संभव ही कैसे हो सकता है ?

---

प्रसंग - छब्बीस (२६)

# प्रियतम इतने प्रेम परवश हैं कि मैं उठाती हूँ तो उठते हैं, बैठाती हूँ तो बैठते हैं ।

रतनगढ़
तिथि, संवत् अज्ञात

मेरी निवास-कुटीके आगे-पीछे चारों ओर वन हैं। पिछवाड़े, पश्चिमकी ओर कुटीके नजदीक तो फुलवारी है, फिर थोड़ा मैदान है। आगे आम्र, अशोक तथा लीचीके वन हैं। मैं अपनी कुटीके आगे पूर्वमें फुलवारीमें बैठी हूँ।

उत्तरकी ओर मेरी कुटीसे आगे थोड़ी दूरपर घासपर हरिण-शावक चर रहे हैं। वे चरते-चरते अति प्यारसे मेरी ओर दृष्टिपात कर लेते हैं, कि कहीं उनका तृण-चारण मेरी रुचिके विपरीत तो नहीं है।

मुझे अपने नेत्रोंसे तो यही दिखता है कि छोटे-छोटे मृगछौने मेरे उपवनकी घास चर रहे हैं, परन्तु भावमें यही अनुभव हो रहा है कि प्रियतम ही मुझे सुखी करने हरिण-शावकोंका मनोहर दृश्य बनकर लीलायमान हैं। और मेरा भाव मुझे ठीक अनुभव कराता है कि पश्चिमकी ओर जो फुलवारी है, उसके प्रत्येक पुष्पमें भी प्रियतम ही मुसका रहे हैं।

मेरा अन्तर्हृदय उन्हें देखते ही कितना तृष्णातुर हो उठता है, कैसे बताऊँ ? उनका रूप मानों अमृतकुण्ड हो, और अनन्त प्याससे तड़फड़ाते मेरे नेत्र उस कुण्डके अमृतको पान करनेको अतिशय समुत्सुक हो उठते हैं।

कुछ काल पश्चात् समग्र बाह्यदृश्य अनिर्वचनीय प्रेममें मानों डूबने लगता है। बस शीतल शंतम कृष्ण ज्योत्स्ना मेरी निवास-कुटीको मेरे तनको, कुटीके निकटकी फुलवारीको, मैदानको, आम्र, अशोक एवं लीचीके वृक्षोंको, सुदूर यमुनाके स्वर्णिम सोपानों एवं घाटोंको सबको समाच्छादित कर देती है। फिर उसी कृष्ण-ज्योत्स्नाके मध्यसे श्यामल प्रीतिवपु मुसकाते सम्मुख खड़े हो जाते हैं। उनके हाथमें लकुट होता है। सिरपर मयूर-पिच्छ, घुँघराली अलकें कपोलोंपर अत्यन्त सुखकारी लगती हैं। वे लकुटके सहारे त्रिभंगीमें खड़े मुसकान बिखेरते रहते हैं। अत्यंत मनोहारी प्रेमभरी दृष्टिसे मुझे निहारते जाते

हैं उनकी दृष्टि नहीं, अमृतकी निर्झरिणी ही होती है। इतना प्रेमामृत उनके नेत्रोंसे प्रवाहित होता है उस प्रेममें मैं डूबकर मात्र प्रीति ही हो जाती हूँ। ऐसा अनुभव होता है, मानो मुझे मिटाकर उन्होंने मात्र प्रेम कर दिया और तब अपने नेत्रोंके प्रेमामृतसे मिलाकर पुनः उसे अपने नेत्रोंमें भर लिया। अब नेत्रोंसे वे मुझे अपने हृदय-सिंहासनमें विराजित कर लेते हैं। उनके हृदयमें भरा प्रेम-रस मुझे परम रसमय बना देता है अब परम रसमय हुई मैं उनके अंगोंमें प्रेम कान्ति बनी छिटकती रहती हूँ। उस समय उनके नेत्रोंसे मैं देखती हूँ। उनके कानोंसे मैं सुनती हूँ! उनका मात्र कलेवर-भर रहता है, शेष सब मैं ही मैं उनके कलेवरकी पूर्ण-नियन्ता बनी रहती हूँ। उस समय मैं यंत्री होती हूँ और वे यंत्र।

भले ही कोई मेरे इस कथनको नहीं माने, परन्तु सत्य यही है कि प्रियतम ऐसे प्रेम-परवश हो उठते हैं कि मैं बैठाती हूँ तो बैठते हैं, मैं चलाती हूँ, तो चलते हैं, मैं गवाती हूँ तो गाते हैं, मेरे संकेतपर ही वे वेणु बजाते हैं, मैं नचाती हूँ तो वे नाचते हैं। मैं उनकी समग्र विधातृ-शक्ति होती हूँ।

और तब उनका निरतिशय प्रेम ही घनीभूत होता हुआ पुनः मेरा स्वरूप बनकर उनके बाह्य प्रकट हो, उनकी दर्शन-स्पृहा शान्त करने लगता है। इस बार वे मेरे नेत्रोंमें समा जाते हैं। नेत्रोंसे हृदय-देशमें चले आते हैं, फिर मेरा प्रीतिरस उन्हें रसमय बनाता हुआ मेरे रोम-रोममें भरलेता है, फिर वे मेरे यंत्री हो जाते हैं। तब वे जैसे मुझे नचाते हैं, मैं नाचती हूँ।

यही हम दोनोंका स्वरूप-विलास है।

राधा राध राधा राधा

प्रसंग - सत्ताईस (२७)

# वे यदि मुझसे पाप करते हैं, वह अनंत पुण्योंसे भी मंगलमय है

रतनगढ़
तिथि अज्ञात

आज निरे प्रभात, जब मैं जल लेने यमुना-घाट गयी थी, वे मेरे घरमें घुस गये। उन्होंने सब दही-दूध, मक्खन बन्दरोंको लुटा दिया। मेरे घरमें जो कुछ था, सब दरिद्रोंको बाँट दिया।

एक दिवस मैं अपनी ननदके साथ यमुना गयी थी, तो उन्होंने मेरी गगरी कंकरी मारकर लुढका दी। जब मेरे सभी वस्त्र भीग गये, तो मुझसे ठिठोली करने लगे। जब मेरी ननद, मैया यशोदाके पास उलाहना देने मुझे ले गयी तो मैयासे नेत्र मटकाकर कहते हैं, "मैया ! याके खसम (पति) को रूप रखकर मैंने ही तो या सौं ब्याह कियो थो, या तेरी सेवामें मेरे घर रहै नाँय, जाते मैं याकूँ सताऊँ हूँ।"

कभी मैं इनसे जनपथमें मिल जाती हूँ, तो सखाओके संग मुझे घेर लेते हैं। मेरा सार्वजनिक खिलवाड करते हैं। परन्तु सखि ! फिर भी मेरी प्रीति उनके प्रति बढ़ती ही जाती है।

बहन ! न-जाने क्यों, ऐसा मन निरन्तर बना रहता है, कि वे ही मेरा धर्म है, वे ही अधर्म हैं। वे ही पाप हैं, एवं वे ही पुण्य हैं। वे ही मेरे कुल हैं, शील हैं। वे ही मेरे सम्मान एवं अभिमान हैं। वे ही मेरी समृद्धि हैं, वे ही मेरे अभाव हैं, वे मेरा यदि अपमान करते हैं, तो वही सर्वाधिक मेरा सम्मान है। वे यदि मुझसे पाप करते हैं, तो वह अनन्त पुण्योंसे भी अधिक पुण्य है। वे यदि मुझे गाली देते हैं, तो मुझे अनन्त स्तुतियोंसे भी अधिक प्रिय हैं। वे यदि पीड़ा देते हैं, तो वह सब सुखोंसे अधिक ग्राह्य है।

बहिन ! मैं तो कन्दुक हूँ और वे खेलते हैं।

प्रसंग - अट्ठाईस (२८)

# जिस मिलनको मात्र पलकका गिरना विरह कर दे, वह काचका महल ही तो है।

रतनगढ़
तिथि, संवत् अज्ञात

भाईजी ! निरन्तर ऐसा मन रहता है कि उनके रूपको नेत्रोंमें पूरम्पूर भर लूँ। नेत्र उनके रूपमें इतने छक जावें कि अनुसन्धान ही नहीं रहे, रूप है या नेत्र हैं। उनकी वेणु-माधुरीसे कान पूरे भर लूँ। वह वेणुध्वनि कानोंसे मेरे हृदयको आत्मसात् कर प्रीति-माधुरीसे पूरा रससिक्त कर दे। उनकी अधर-सुधाको इतना छककर पान करूँ कि मेरी सब सत्ता ही उनसे अभिन्न हो उठे। बस, फिर वे, वे न रहें, "मैं" मैं न रहूँ; मात्र प्रीति ही रहे।

भाईजी ! मेरे नेत्र प्रेमशून्य हैं। वे भेद-परत्व देखना त्यागते ही नहीं। उनको प्रियतम प्राणवल्लभके प्रेममय रूपमें इतना डुबोऊँ कि बस उनका रूप ही रूप रह जाय, उनकी आत्मीयता ही आत्मीयता शेष रह जाय। फिर अनुसंधान ही नहीं रहे, कि उनका रूप है कि मेरे नेत्र हैं।

उनकी चरण-महिमा ऐसी असमोर्ध्व है कि इन चरणोंके संस्पर्शकी संभावनासे ही पृथ्वी नित्य सुहागिनकी तरह प्रीति-सज्जासे सुसज्जित हो उठती है। उनकी चरण-नख-ज्योतिमें अपनी आत्मसत्ताको इतना डुबाऊँ कि वह विलीन ही हो जाय। अपनी सभी इन्द्रियोंको उनकी इन्द्रियोंमें मिला दूँ। अपनी आँखें, यदि उनके अतिरिक्त कुछ भी देखती हैं तो उस दृश्यको बाधित करके उन्हें ही उन्हें देखूँ।

अहा ! जहाँ देखूँ वहाँ-प्रियतम ही प्रियतम। नेत्रोंमें प्रियतमका रूप इतना भर जाय कि आकाश, मात्र प्रियतममें रूपान्तरित उनका रूप ही हो जाय।

भाईजी ! जिस मिलनको पलकोंका गिरना विरह कर दे, मनका संकल्प-विकल्प जिस मिलनमें बाधक हो जाय, शरीरकी गति-अपगति, उसकी जन्म-मृत्यु, उसका देश-विदेशगत गमन-आगमन जिस मिलनको अमिलन कर दे, वह कांचका महल ही मात्र तो है, न जाने किस क्षण टूट जाय ? उस

मिलनका क्या तो विश्वास किया जाय ? उस नील सुन्दर प्रियतमको तो अपने से इतना एकात्म करूँ, कि वह न शरीरके संयोगसे संयुक्त हो, न उसके वियोगसे वियुक्त हो पावे।

भाईजी ! वे परम सुन्दर हों और मैं देखती रहूँ, यह तो मात्र क्षणिक नेत्रेन्द्रियोंकी तृप्ति ही तो है, चाहे वे मेरे नेत्र इस पांचभौतिक देहके हों अथवा भाव-देहके । वे वेणुवादन करें और मैं सुन लूँ, यह तो मात्र क्षणिक कानोंको सुख देनेका भोग-सुख ही तो है, चाहे वह सुख मेरे भावगत देह द्वारा ही मुझे मिलता हो। इसी प्रकार, वे कुछ काल आलिंगनका सुख लें, या दें, यह भी क्षणभरका ही लेन-देन है। क्या यही मेरा उनका प्रेम है ? ओस-बूँदके जलसे कभी किसीकी प्यास बुझी है क्या ? इन्द्रिय-सुख तो ओस-बूँदसे भी ज्यादा क्षण-भंगुर है। तब नाशमान सुखकी झलक पाना ही क्या प्रीति है ? भाईजी ! प्रियतमको मैं अपना असीम भोग बना लूँ या मैं उनका असीम भोग बनूँ, यही तो मेरा-उनका शाश्वत योग है। मेरी अनादि, अनन्त, अखण्ड, अक्षय, अतृप्तिकी वे शाश्वत तृप्ति हों, मुझ अनन्त-सतृष्णके लिये वे पूर्ण प्रेमामृत-सागर हों, मुझ अनन्त भाव-सरिताके लिये वे अनन्त रसवारिधि हों। वे मेरे बहुत भीतरतक घुसकर मेरे अपनत्व, मेरे आपेसे घुल-मिल एक हो जावें, तभी तो मेरी सार्थकता है। तभी न वे मेरे निजस्व, प्राणपति, जीवनसर्वस्व, प्राणों-के-प्राण सत्यतः होंगे। अन्यथा, तो ये मात्र शब्द ही होंगे। जो जीभके हिलानेसे उत्पन्न होंगे और निरर्थक ही शून्यमें विलीन हो जावेंगे। उनका उच्चारण करनेकी सार्थकता तो तभी होगी, जब वे इन शब्दोंके मेरे जीवनमें सच्चे यथार्थ हो जावें।

भाईजी ! वे मेरे नेत्रोंके रूप अवश्य हैं, परन्तु नेत्रोंको भोगनेवाले रूप हैं, नेत्रोंके द्वारा भोगे जानेवाले रूप नहीं है।

एक दिवस,वे मेरे सम्मुख आये। वे बहुत ही सुन्दर थे। उनका मयूर-मुकुट, घुँघराली अलकावलि, केसर-तिलक, शुभ्र-ललाट, उस पर कस्तूरीकी चित्रकारी, कुण्डलोंकी आभासे दमकते कपोल, अधरोंपर मन्द मुस्कान, गलेमें वनमाला, सब कुछ परम मनोहारी विलक्षण था। उन्होंने मुझसे कहा – "कितना सुन्दर हूँ मैं ?" मैं मुसका उठी। फिर उन्होंने अपनी शक्ति, सामर्थ्यका प्रकाश किया, अपना ऐश्वर्य प्रकट किया। निस्सन्देह अनन्त-शक्ति, सर्वभवन-सामर्थ्य उनमें है ही। ऐश्वर्य भी उनका असमोर्ध्व है, इसमें किसे संशय हो सकता है ? परन्तु मैं मुसकाती रही। मुझे अपने बल, ऐश्वर्य, सौन्दर्य-माधुर्यसे अभिभूत होता नहीं पाकर, उन्होंने अपना शील एवं यश प्रदर्शित किया। अनन्त गुणावली, अतुलनीय शील, अपार सुयश उनका था ही। किन्तु, अब भी मैं उनसे अप्रभावित मुसका

रही थी। वे मुझसे प्रश्न करते बोले – "क्यों ?" मैंने उनसे कहा – "प्रियतम! तुमने अर्जुनको विराट्‌रूप दिखाया एवं उसे चकित कर दिया। कौरव-सभामें सभी कौरवोंको अपने विराट्‌रूपसे तुमने भयभीत और चमत्कृत कर दिया। महर्षि उत्तंक तुमसे भयग्रस्त हो गये, और कहाँ तो वे तुम्हें श्राप दे रहे थे, कहाँ चुप-चाप मुख छुपा गये। तुमने माता यशोदा एवं नन्दजीको भी अपने विश्व-विराट् रूपका दर्शन कराया, और वे भी भोले माता-पिता 'नारायण-नारायण' रटने लगे। तो, आज मैं तुम्हें अपना विराट् स्वरूप दिखाती हूँ। देखो .... "और वे अति उत्सुक मेरी ओर देखने लगे। मेरे रोम-रोममें वे-ही-वे भरे थे। वैभव एवं ऐश्वर्य, उनकी सब शक्तियों सहित वे मेरे रोम-रोममें भरे-छके थे। मैं मुसका रही थी। उन्हें सचकित देखकर मैं उनके गलेमें लिपट गई एवं कहने लगी – "प्रियतम तुम मेरे हो, मेरे नयनोंके काजल हो, मेरे कानोंके कर्णफूल हो, मेरे सीमन्तका सौभाग्य-सिन्दूर हो, मेरे मुकुटमणि हो, मेरे तिलक हो, मेरे आननके मधुकर हो, मेरी श्वासोंके संगीत हो, मेरे हृदयके हार हो, मेरे मनके मनसिज हो, मेरे चित्तकी चेतना हो, मेरी समग्र ममताके केन्द्रबिन्दु हो, मेरी प्रीति-धरोहर हो, मेरे रोम-रोमकी पुलक हो, मेरे प्राणोंके प्राण, जीवनके जीवन हो, मेरी सत्ता हो, चेतना हो, मेरे सुख-सौभाग्य हो, मुझ अकिंचनकी असीम सम्पदा हो, मुझ निरवलम्बके मात्र अवलम्ब हो, मेरे सर्व-याचना-स्थल हो, जब तुम सब प्रकारसे मेरे हो, तो मैं महान् और तुम अल्प हुए या नहीं ? क्या यह तुमसे बड़ा गुण मेरा नहीं ?"

अब तो वे भी हँसने लगे और हम दोनों एक दूसरेके आलिंगनमें गुँथ गये। वे मेरे भूषण हैं, इससे बड़ा गुण कुछ हो भी तो नहीं सकता।

भाईजी ! प्राणवल्लभ तो घन-ममत्व की मूर्त्ति हैं, वे यदि मेरे नहीं होंगे, तो क्या जड़ता और परत्वसे भरा संसार मेरा होगा ? यदि ममत्व और सौहार्द ही अपना नहीं होगा तो क्या जड़, स्वप्न-सदृश माया किसीको अपनायेगी ? भाईजी ! आपकी कृपासे मुझे तो ऐसा ही प्रियतम-प्रेयसी पद दान कर दीजिये। और क्या कहूँ ?

राधा राधा राधा राधा

---

## प्रसंग - अट्ठाईस (२८)

# उस समय वे मेरे मात्र अपनत्वके ही आस्वादन होते हैं।

**रतनगढ़**
**तिथि, संवत् उल्लेख नहीं**

भाईजी ! वे इतने सुन्दर हैं कि मेरे नेत्र उनकी सुन्दरताको अपने नेत्र रूप पात्रमें भर ही नहीं सकते। यदि विधाता मुझे करोड़ों नेत्र दे दे, तब भी उन्हें देखनेकी मेरी स्पृहा शान्त नहीं हो सकती। वे इतने सुकोमलतम हैं कि मेरे हाथ उन्हें स्पर्श ही नहीं कर पाते। स्पर्शेन्द्रियको स्पर्श करनेके लिये कुछ कठोरता स्थूलता अपेक्षित है ही।

भाईजी ! वे इतने अपने हैं कि प्राप्त ही नहीं होते। प्राप्त होनेके लिये किञ्चित् परत्व तो अपेक्षित है ही। प्राप्ति-भावका अर्थ ही है कि कोई पराया है, अप्राप्त है, पृथक् है। किसीको तभी न प्राप्त किया जाय, जब कोई किंचित् दूर हो, अलभ्य हो। किंचित् नेत्रोंसे दूरी होगी, तब न नेत्र देखेंगे, कान सुनेंगे, स्पर्शेन्द्रिय स्पर्श करेगी, हाथ पकड़ेंगे एवं पैर उनकी ओर गति करेंगे। वे तो सीधे ही जब हृदयमें पैठ जाते हैं, तो कोई कैसे किसे प्राप्त करे ? उनके लिये साधनाश्रम भी क्या किया जाये ?

अरी ! अग्निमें जला हुआ तो कोई कहीं बच भी जाय, परन्तू सूर्यसे जलेको कैसे कोई बचा सकता है ? वे तो प्रेम-सूर्य हैं। अरी ! नदी नालेमें से तो डूबे हुएको कोई निकाल भी ले, समुद्रमें डूबेको कोई कैसे निकालेगा ? वे तो प्रेम-समुद्र हैं। उनके अपनेपनके समुद्रमें मेरा आपा ही डूब गया री। अब तो समुद्रमें डूबा सिन्धु होकर ही लहरायेगा। सूर्यसे जला सूर्य होकर ही प्रकाशित होगा। धरामें गड़ जानेपर तो मिट्टी ही बनना होगा। मैं रही ही नहीं। पूरीकी पूरी उनकी हो गयी।

अरी ! यह जो मैं बोल रही हूँ, सो भी उन अनन्त रस-विलास प्रियतमकी एक लीला-लहर मात्र है।

आओ बहन ! चलें उस निकुञ्जमें; चलकर उनके अखण्ड प्रेमालिंगनमें बँधकर चिर विश्राममें डूब जायें। उन परम प्रीतिमयको अपनेमें पूरा भर लूँ और अपने भेदको उनके सत्यमें पूरा डुबा दूँ। अब तो उनके आलिंगनमें यही अनुभव

हो कि वे ही मेरी भोग-स्पृहाके रूपमें अपने आपका स्वयं ही आलिंगन सुख ले रहे हैं। मेरे नेत्रोंकी लालसा बनकर वे स्वयं ही अपने रूपका आस्वादन कर रहे हैं, मेरे कानोंकी लालसा बनकर वे ही अपने स्वयंके मधुर शब्दको सुन रहे हैं, मेरी गन्धकामना बनकर वे अपनी ही प्रीति-गन्धको सूँघ रहे हैं। वे ही मेरी स्पर्शकामनासे अपनी ही सुकोमलताका अनुभव कर रहे हैं।

बहिन ! एक और चमत्कार होता है। ज्योंही वे मुझसे मिलते हैं, वे अपने रूपका चोला ही उतार देते हैं। मेरी देखनेकी कामना जबतक रहती है, तभीतक वे अनन्तानन्त रूपको ओढे रहते हैं और जैसे ही मेरी देखनेकी कामना-तृप्त हुई, उनका 'रूप' नामक वस्त्र भी उतर जाता है। मैं जबतक भोक्ता रहती हूँ, तभीतक वे भोग्य रहते हैं। अथवा वे जबतक भोक्ता रहते हैं, तभीतक मैं उनकी भोग्या रहती हूँ। जैसे ही मैंने भोक्तापनको फेंका, वे भोग्यभावसे पूर्णतया मुक्त हो जाते हैं। अथवा उन्होंने भोक्तापनका जैसे ही त्याग किया, मेरा भोग्याभाव उनकी प्रीतिमें लीन हो जाता है। मैं अपने नारीरूपका जबतक स्मरण रखती हूँ, तभीतक तो वे नर हैं; मैं रमणी हूँ, तभीतक वे रमण हैं। जैसे ही मैंने नारीत्व, रमणीत्वको उनकी प्रीतिमें विस्मृत किया, वे रमण एवं नर कहाँ रह पाते हैं ? बहन ! नेत्र तथा रूप, कान एवं शब्द, नासिका एवं गन्ध, स्पर्शेन्द्रिय और स्पर्श, रसनेन्द्रिय एवं रस सभी बाह्य वस्त्र ही तो हैं, मात्र आवरण ही तो हैं। जबतक उनसे मिलना नहीं होता, तभीतक ये वस्त्र रहते हैं; जबतक पूर्ण मिलन नहीं होता, तभीतक तो बाह्य श्रृंगार रखना होता है। बहन ! उनके और मेरे मिलनके मध्य आवरण कैसे संभव है ? निरावरण मिलन ही विशुद्ध प्रेम है री ! मेरे, उनके मध्य ये रूप-नेत्र, मन-बुद्धि, कान शब्दादिक दीवारें रही, फिर मिलनानन्द ही कहाँ ? अतः सब बाह्य आवरण स्वतः ही उतर जाते हैं। और निरावरण उनसे एक हो जाती हूँ।

बहिन ! उनका बाह्यरूप मेरे नेत्रोंका काजल है। उनकी वेणुमाधुरी मेरे कानोंका कर्णफूल है। उनकी अंग-गन्ध मेरी नासिकाकी नथमुक्ता है। उनका स्पर्श और त्वगिन्द्रिय-सुख मात्र मेरी त्वचाका लेपन द्रव्य है। बहन ! सब मात्र बाह्य श्रृंगार है री ! सब उतारकर निरावरित, जब उनसे मिलती हूँ, तो पता चलता है कि वे और उनकी प्रीति कैसी विशद है। उस समय न मैं 'मैं' रहती हूँ एवं न ही वे 'वे' रह पाते हैं। बस, एक परम मधुर, परम रसमय प्रीति रहती है। वही सब सौन्दर्य, माधुर्य, रसास्वादनकी उद्‌गम-स्थली है। उस समय वे मात्र मेरे अपनत्वके ही आस्वादन होते हैं।

प्रसंग - तीस (३०)

# निरावरित मिलनमें ही उनका प्रेमास्वादन संभव है।

रतनगढ़
तिथि - अज्ञात

बहिन ! क्या करूँ री, मैं महाकुरूपा हूँ। इसीलिये मुझे उनका रूप प्रिय लगता है। यदि मैं रूपवती होती, रूपतृप्त होती तो उन्हें रूपवान् होकर मेरे सम्मुख आनेकी आवश्यकता ही नहीं थी। किन्तु मैं तो सब प्रकारसे ही दुर्गुणोंकी खान हूँ, इसीलिये मुझे रिझाने, वे गुणोंका शृंगार करते हैं। मेरी कटुताकी अग्नि बुझानेके लिये ही उनमें मधुरता उदित होती है। बहिन ! तप्त को ही शीतलता की माँग होती है, इसीलिये वे अपार रसमय हुए मेरी तृप्तिके लिये उमड़ते हैं। मुझ कंगालिनीके कामकी पूर्त्ति ही तो उनका ऐश्वर्य करता है।

परन्तु उनके रूपोदधिसे ज्योंही मेरी रूपासक्ति परितृप्त होती है, वे रूपका चोला उतार देते हैं। वे गुणोंका, शीलका, माधुर्यका, ऐश्वर्यका सब पहनावा फेंक देते हैं जैसे ही मेरी दुर्गुणी होनेकी, दुश्शीलताकी, कटुताकी, कँगलेपनकी ग्लानि मिटती है। मैं हीनताका, लघुताका त्याग करती हूँ, वे महानताका पूर्णतया त्याग कर देते हैं। अरी ! रूपासक्ति कोई प्रेम थोड़े ही है, वह तो मात्र प्रलोभन है। गुण, शील, यश, माधुर्य एवं ऐश्वर्य तो मात्र कामनाकी आग बुझाने वाले हैं। प्रेम कोई बुभुक्षाका हविष्य थोड़े ही होता है। नहीं री बहिन ! वे निरावरित जब मुझसे मिलते हैं, तभी मैं उनका विशुद्ध प्रेम-स्वरूप देख पाती हूँ। उस समय मैं भी दुर्गुणों, कुरूपताओं, मलिनताओं, कटुताओं एवं दरिद्रताओं और अभावोंके मलावरणसे मुक्त होती हूँ। वे मेरे पूरे तभी होते हैं जब मैं भी अनावरित और वे भी पूरे अनावरित होते हैं।

उस समय न तो वे ईश्वर होते हैं और न ही मैं जीव होती हूँ। न वे अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्य-ज्ञान-वैराग्य धर्म-यश एवं वीर्यको धारण करने वाले होते हैं, न ही मैं अल्प, मलिन, मृत्यु, दुःख, अविद्या, माया, भोग, रोग, अधर्म एवं दुर्बलताओंसे त्रस्त जीव होती हूँ। अरी ! जबतक किसीकी भी आँखोंमें इन निर्बलता-सबलता, दारिद्रय-वैभव, लघुता-महानता, पवित्रता-अपवित्रताकी कीच लगी है, वह मेरे प्रियतमके सच्चे प्रेम-स्वरूपको देख ही नहीं सकता। गुणोंका अभिमानी प्रेमकी पवित्रताको स्पर्श भी नहीं कर पाता।

## प्रसंग - ईकत्तीस (३१)

# तुम तो मेरे सदैव रहोगे ही

रतनगढ़
तिथि - उल्लेख नहीं

भाईजी ! पहले मैं उनकी प्रतीक्षामें रात-रात भर जगती थी। सोचती थी, कहीं सो गयी और वे मेरे पास आये, मैं उन्हें सोयी मिली, वे लौट जावेंगे तो क्या होगा ? परन्तु अब तो उनकी उपस्थितिमें भी खूब निश्चित सो जाती हूँ।

जबतक वे मुझे अपने नहीं लगते थे, तभीतक मैं उन्हें रिझानेको श्रृंगार करती थी, उनके अनुकूल आचरण करती थी, सदा शिष्टताका ध्यान रखती थी। उन दिनों यमुनाघाटपर उनकी एक झलक मिल जाय, उसके लिये तरस जाती थी। एक दिवस उन्होंने मुझसे मात्र दो मीठे बोल बोल लिये थे, उस दिन सभी सखियोंको मैंने मिठाई बाँटी थी। सखियाँ मुझसे बारम्बार पूछ रही थीं। "आज तू किस खुशीमें मिठाइयाँ बाँट रही है," – तो मैंने असत्य ही कह दिया था कि "आज मेरा जन्म-दिवस है।" अरे जिस दिवस उन्होंने मुझे 'प्रिये' कहा था, ऐसा लगा था, जैसे मेरे सौभाग्य-सूर्यका आज ही उदय हुआ है। जिस दिन कुञ्जमें उनसे प्रथम मिलन हुआ था, उस दिवस तो सम्पूर्ण ब्रजमण्डल फूलोंसे भरगया था। आकाश सुखवर्षा करता धरतीके अति निकट आगया था। सूर्य और चन्द्रमा उस दिन मुझपर अमृत वर्षा कर रहे थे। निशापर्यन्त तारकावलियाँ आनन्द-समारोहमें झूम रही थी। निशा-सुन्दरीने उस अवसर पर घुँघरू बाँधकर नृत्य किया था।

उन दिनों कितनी भयभीत रहती थी। देवी-देवता गृह-नक्षत्र सबकी अनुकूलता मनौतीके रूपमें मानती थी, पद-पदपर शंकालु चित्त कितने अनिष्टोंकी आशंका करता था, कहीं यह मेरा सुख-सौभाग्य छिन नहीं जाय। कहीं वे मेरी दृष्टिसे ओझल नहीं हो जायें, मुझसे पराये नहीं हो जावें। उन दिनों क्षणोंका वियोग युगों, कल्पोंके समान लगता था। अनिष्टकी कितनी आशंकायें होती थीं। परन्तु अब मुझे उनके अखण्ड अपनत्वका पूरा विश्वास हो गया है। उन दिनों अविश्वास ही भयका कारण था और अब विश्वासने मुझे बेपरवाह बना दिया है। अब तो मैं उनसे रूठती हूँ, झगड़ती हूँ, कलह करती हूँ, मान करती हूँ, अब तो उनकी उपस्थितिमें भी निश्चिंत सो जाती हूँ। मैं कुछ भी उनकी

रुचिके विपरीत भी करूँ, तब भी उनका मेरे प्रति अपनापन अखण्ड है। मेरा प्रेम अविनाशी है। अब वे मुझे कभी त्याग ही नहीं सकते, क्योंकि वे अकाट्य-रूपसे मेरे हैं। अब तो क्षण-क्षण एक ही गीत मेरी वाणीमें फूटता रहता है –

**संसारे जदि नाहि पाइ साड़ा, तुमि त आमार रहिबे ।**
**बहिबारे जदि नाहिं पाइ भार, तुमि त, बन्धु बहिबे ।।१।।**
**कलुष आमार, दीनता आमार, तोमारे आघात करे शतबार**
**आर केह जदि ना पारे सहिते, तुमित बन्धु सहिबे ।।२।।**
**जाक् छिंड़े जाक् मोर फूल-माला, थाक् पड़े थाक् भराफूल डाला ।**
**हवे न विफल मोर फूल-तोला, तुमित चरण लइबे ।।३।।**
**दुःखेर आमि डरिब न आर, कण्टक होक् कण्ठेर हार ।**
**जानि तुमि मोरे करिबे अमल, जतई अनल दहिबे ।।४।।**

**(भावार्थ)**

यह संसार यदि हजारों बार पुकारने पर भी मेरी पुकार अनसुनी कर दे, परन्तु हे प्रियतम ! तुम तो मेरे सदैव रहोगे ही। तुम मेरी पुकार कदापि अनसुनी नहीं कर सकते। इस जगत्में मेरा भार उठानेवाला कहीं कोई भले ही नहीं मिले, तुम तो निश्चय ही प्रियतम ! मुझको वहन करोगे ही ।।१।। मेरा कालुष्यभरा स्वभाव, मेरा दैन्य निश्चय ही तुम्हें अनवरत बार-बार आघात (पीड़ा) देगा, परन्तु और कोई दूसरा चाहे सहे, अथवा नहीं सह पावे, तुम तो प्रियतम मुझे सहोगे ही। मेरी गुँथी फूलमाला भले ही कोई छिन्न-भिन्न कर दे, मेरी फूलोंकी ढेरीको संसार भले ही स्वीकार नहीं करे और वे फूल भले ही उलियामें धरे रह जायें, परन्तु प्रियतम ! तुम्हारे लिये मेरे फूलोंका चुनना विफल नहीं होगा, तुम तो मेरे सुमनोंको अति प्रेमाग्रहसे अपने चरणोंमें ले ही लोगे।।३।।

हे प्रियतम ! अब मुझे दुःखोंसे तनिक भी भय नहीं लगेगा। भले ही मेरे उर पर संसार काँटोंका हार ही डाल दे, मुझे यह पूर्णतया ज्ञान हो गया है कि तुम मुझे जितना ज्वालामें झौंकोगे, निश्चय ही तुम्हारी यह क्रिया मुझे निर्मल करनेके लिये ही होगी ।।४।।

बहिन ! गुणों ही गुणोंकी क्या बात करूँ, वे इतने स्वार्थी थोड़े ही हैं कि वे मेरी सुन्दरताके तो भोक्ता हों, और कुरूपताको त्याग दें, वे मेरी सुशीलताके ग्राहक हो और दुश्शीलताको त्याग दें, वे मेरे सुखके साथी हों और पीड़ाको त्याग दें, पुण्यके ग्राहक हों और पापको त्याग दें, बहिन ! मैं उनकी हूँ, तो उन्होंने मेरी सब सुदशा एवं दुर्दशा दोनों ही स्वीकारी है री !

बहन ! वे मधुरताके समुद्र अब अन्यत्र थोड़े ही आते-जाते हैं, मुझमें ही

नित्य निवास करते हैं। वे मुझे अपनी प्रीतिमें डुबोने मुझसे ही प्रकट होते हैं। और मुझमें ही पुनः छुप जाते हैं। मैं उनकी नित्य निवास-भूमि हो गयी हूँ। मैं ही उनका लोक हूँ। उनका कोई निश्चित समय तो है नहीं; दिनमें, रात्रिमें, जब इच्छा हो, प्रकट हो जाते हैं। उन्हें कोई संकाच नहीं होता। मैं सोयी हूँ, जागती हूँ, नहाती हूँ, खाती हूँ, उनकी प्रतीक्षा करती होऊँ, नहीं करती होऊँ, उनकी उपस्थिति मुझे वांछित हो, अवांछित हो, वे मेरे पास चले आते हैं। वे मेरे शयन-गृहमें, स्नान-गृहमें कहीं भी आ सकते हैं। वे मेरे सब मनके ज्ञाता हैं। मेरे सब हृदयसे पूरे परिचित हैं। वे मनकी गुप्तसे गुप्त बात और गुप्तसे गुप्त कर्मको भी जानते हैं।

वे सर्वकालके मेरे साथी हैं। उनके सिवा मेरा कोई कुछ भी नहीं है। वे ही मात्र मेरे हैं।

मैं अनन्त शृंगारोंमें उनकी हूँ एवं सर्वशृंगार-रहित भी उनकी ही हूँ। वे परम प्रेममय हैं, अतः प्रकट होकर अपने प्रेममें ही छुप जाते हैं। संयोग-वियोग दोनों ही उनका प्रेम ही है।

बहन ! संयोगका सुखास्वादन अधिक-से-अधिक हो, इसीलिये वे वियुक्त होते हैं। वियोगका दुःख अधिक-से-अधिक हो, इसीलिये वे संयुक्त होते हैं। संयोग का सुख ही तो हमें वियोगमें दुःखी करता है। और वियोगका दुःख ही हमें संयोगमें अतिशय सुखी करता है। प्रीति तो दोनोंही में सम है। और वे तो मात्र प्रेम ही तो हैं। अतः वे प्रेम होने के कारण संयोगमें जितने मिले हैं, वियोगमें भी उतने ही मिले हैं। वियोगमें अभाव किसी दूसरेका थोड़े ही है, उनका ही अभाव होता है और संयोगमें भाव भी उनका ही होता है। वे तो दोनोंमें ज्यों-के-त्यों एकरस हैं ही। अरी उनकी पीठ वियोग है और मुख संयोग है। उनका रोष वियोग और तोष संयोग है, अब पीठ और मुख दोनों ही जैसे उनके ही हैं, वैसे ही रोष एवं तोष भी उनके ही हैं। वे तो सदैव मेरे पास ही हैं। वियोगमें, संयोगमें, भावमें, अभावमें, विरागमें, अनुरागमें, साम्मुख्यमें, वैमुख्यमें, दर्शनमें, अदर्शनमें वे मेरे चित्तको कहाँ छोड़ते हैं। अतः अब मैं तो निर्भय, निश्चित बेपरवाह हो गयी हूँ। उनकी प्रीतिकी महिमा ही यह है कि वे कभी पराये हो नहीं सकते। वे तो सदैव अपने ही अपने हैं। और जो अपनेपनसे भरा है वह नित्यमिलित ही है। कभी अमिलित हो ही नहीं सकता।

**राधा राधा राधा राधा**

## प्रसंग - बत्तीस (३२)

# मेरा असली सौन्दर्य तो मात्र प्रीति है

रतनगढ़

तिथि - अज्ञात

भाईजी ! वे मेरे हैं। आज मैंने उनसे खूब कलह की। जब वे आये, मैंने सब श्रृंगार बिगाड़ लिया। मलिन वस्त्र पहन लिये। सारे शरीरको धूलि-मिट्टीसे भर लिया। शय्या त्यागकर भूमि पर सो गयी। केश बिखरा लिये। जब वे मनाने आये, तो उन्हें पीठ दे दी। उन्हें चिढ़ानेका जितना प्रयास कर सकती थी, किया, परन्तु वे मेरे ऐसे अनन्य प्रेमी हैं कि मुझसे एक क्षण भी रुष्ट नहीं हुए। मुसकाते ही रहे।

वे मेरे हैं, वे मुझे उठाते हैं, उठती हूँ, बैठाते हैं, बैठती हूँ, नचाते हैं, नाचती हूँ, गवाते हैं, गाती हूँ, सत्कारते हैं तो सम्मानित होती हूँ, दुत्कारते हैं, तिरस्कृत हो उठती हूँ। वे पीड़ा देते हैं, सताते हैं, भूखा रखते हैं, रोगी करते हैं, वे मुझपर पूर्ण स्वाधीन हैं।

क्या वे मेरे पराये हो सकते हैं ? किसी कालमें किसी अवस्थामें भी नहीं। नहीं, नहीं, वे एकान्त हेतुरहित मेरे थे, हैं एवं सदा रहेंगे। यदि मैं दुर्गुणोंसे भरी उनके सम्मुख आती हूँ, तब तो उनका प्यार मेरे प्रति और अधिक वेगसे उमड़ उठता है।

मैं काली-कुरूप, दुश्शीला, अधर्मपरायणा हूँ, परन्तु उनकी, मात्र उनकी होनेसे उनकी दृष्टि मेरी गुण-अवगुण राशिपर जाती ही नहीं। वे मेरे प्रति मात्र प्रीतिसे आकृष्ट हुए हैं, इसीलिये मैंने उनका नाम प्रियतम रखा है। प्रीति गुणोंकी गुलाम सर्वथा नहीं है। उसका गुण-अवगुणसे प्रयोजन ही क्या है ?

अरी ! वे मेरे अन्तर्यामी हैं, वे मेरे भीतर-बाहरकी सब जानते हैं, और मैं उनके ह्रदयकी सब बात यथार्थतः जानती हूँ। जब वे मेरे भूत, भविष्य एवं वर्त्तमानकी सब जानते हैं, तो उनसे मेरा श्रृंगार ही क्या ? श्रृंगार तो मात्र ऊपरी बनावट ही तो है। क्योंकि वे मेरी सभी कुरूपताओंको जानकर मेरे हैं, अतः अब मैं निर्द्वन्द्व निश्चिंत हूँ।

वे मुझे जो हूँ, जैसी हूँ जब सब जानकर ही स्नेह करते हैं, तो फिर अब

मैं निर्भय उनकी गोदमें निरावरण हूँ।

अरी ! उन्हें सौन्दर्य सुख देगा कि मैं सुख दूँगी ? वे तो स्वयं ही अनन्त सुन्दर हैं। जो वस्तु जिसके पास नहीं होती, उसे ही पाकर तो वह प्रसन्न होता है। श्रृंगारके ऊपरी लेपोंको तूने मुझपर यदि लेप ही दिया, तो वह कैसे स्थायीरूपमें उन्हें अपना बना सकेगा ? वे नकल देखकर उलटे हँसेंगे री ! क्योंकि वे तो सभी भीतरकी जानने वाले हैं।

सखिरी ! मेरा असली सौन्दर्य तो मात्र प्रीति है। इस ऊपरी त्वचाको सुन्दर बनानेसे क्या लाभ ? उनकी दृष्टिमें यह तुच्छ अतितुच्छ, घृण्य है री ! अरी ! वे मेरे गुणोंको भोगेंगे, कि मुझे ? अरी सखि ! वे अनन्त गुण-वारिधि हैं। अरी, उनसे अधिक गुण मैं कहाँसे पाऊँगी री ? समग्र गुणोंकी जननी लक्ष्मी उनके चरणोंमें रजके तुल्य हैं। वे उसकी ओर कहाँ देखते हैं ? तब गुणोंके अलंकार यदि मैंने धारण कर भी लिये, तो वे चरणोंमें पड़ी लक्ष्मीका दासत्व मुझे भी दे देंगे। मुझे कण्ठसे कहाँ लगावेंगे ? सखि री ! वे तो मात्र प्रीति-भोगके ही लोलुप हैं। अतः इन गुणालंकारोंका अपने पास होना, नहीं होना – मात्र व्यर्थ की बात है।

अरी ! मैं उनके पास ज्यों ही पहुँची, वे परम प्रेममय मुझे सीधे अपने हृदय-देशमें ले जावेंगे री ! सखिरी ! उनका हृदय इतना एकान्त सुकोमल है, वहाँ तो प्रीतिचन्द्रकी परम मधुमयी शुभ्र चाँदनी छिटकती है। वहाँ ये तेरे सजाये वस्त्रालंकार कुछ अर्थ ही नहीं रखेंगे री ! व्रहाँ तो वे भी अपने सब गुण, सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य, भगवत्ता, यश, बल, आदि अलंकार एक किनारे रखकर मात्र प्रेम कान्तिसे जगमगाते हैं। अतः सब सज्जा व्यर्थ है री! मुझे तो अकिंचन ही उनके पास जाने दे री ! प्रीति तो अकिंचन ही होती है। वे भी अंकिचन, मैं भी अकिंचन। वे अपनी महानतासे मुक्त और मैं अपनी अल्पतासे मुक्त। प्रेममें एकमेक। वे, 'वे' न रहें, और मैं 'मैं' न रहूँ। एकत्वके बिना मिलनानन्द कैसा ?

**राधा राधा राधा राधा**

प्रसंग - तैंतीस (३३)

# रसहीन फलका छिलका कहीं स्वादिष्ट होता है ?

रतनगढ़

तिथि - अज्ञात

अरी बहिन ! यदि मेरा श्रृंगार तूंने बहुत सुन्दर कर भी दिया, और उन्होंने समझ लिया कि इसकी सौन्दर्यासक्ति है, तो वे मुझे अपने अनन्त सौन्दर्यसे एक कर लेंगे। यदि तूने मुझे गुणालंकारोंसे सजाया और उन्होंने कहीं समझ लिया कि मैं गुण-लुब्धा हूँ, तो वे अपने अनन्त गुणोंसे मेरा मिलन करा देंगे और मात्र मैं गुणवती ही रह जाऊँगी। वे मुझे कहाँ मिल पावेंगे ? और यदि वे न मिले और मैं अनन्त सुन्दरी, अपार गुणवती ही होकर रह गयी तो मुझे क्या मिलेगा री ? रसहीन फलका छिलका कोई स्वादिष्ट होता है क्या ?

अरी ! जैसे उनके आयुध बाहर ही पड़े रहते हैं, अरी, जैसे उनकी माला, मुकुट, कंगन, अंगद, कौस्तुभ, बाह्य-शोभा ही हो रहती है, क्या तू भी मुझे मात्र उनके बाहरका श्रृंगार ही बनाना चाहती है ? नहीं सखि ! यह उनका बाह्य दर्शन कामुकों और बहिर्मुखोंको भले ही संतुष्ट कर दे, मैं तो उनकी प्रीति-कामिनी हूँ। वे मेरे प्रियतम हैं, मैं उनकी प्रिया हूँ। वे मेरे सर्वस्व हैं, मैं उनसे अभिन्न हूँ। वे मेरे रोम-रोमके स्वामी हैं।

अरी, नदीको तू कितने ही पुष्प-श्रृंगारोंसे श्रृंगारित कर दे, वे सभी अलंकार नदी किनारे ही फेंक देगी। तू नदीके घाटोंको कितने स्वर्ण दीपोंसे जगमगादे, उसकी दृष्टि एकटक सागरकी ओर ही लगी रहेगी। उसका लक्ष्य सागर-मिलन है। उससे एकमेक हो जानेमें ही उसकी चरितार्थता है। वह घाटोंकी जगमगाहट से कैसे लुब्ध होगी ? सागर भी उसे अपनी ऊपरी लहर नहीं बनावेगा। वह उसे अपने भीतर, अति भीतर, हृदय-देशमें आत्मसात् कर लेगा।

अरी ! मुझे मेरे प्रियतमसे एकमेक हो जाने दे। पृथक्ता महा-अभाग्य है।

राधा राधा राधा राधा

प्रसंग - चौंतीस (३४)

# क्या तुम 'तुम' ही रटते रहोगे, 'तुम' तो परत्व है, बोलो - 'मेरी', 'अपनी' – मैं मचले जा रही थी

रतनगढ़
तिथि - अज्ञात

भाईजी ! आजकी बहुत ही प्यारी अनुभूति लिख रहा हूँ। उन्होंने एक सखिसे कहकर मेरे नेत्र मुँदवा दिये। और स्वयं अपनी वाणीसे बोले – "बताओ प्रिये ! कौन है ?" मैंने उत्तर दिया "प्रियतम" । वे विजयोल्लाससे मुसकाकर बोले – "ऊँ हूँ, तुम हार गयी"। सखीने अपने हाथ मेरे नेत्रोंसे निवृत्त कर लिये थे। मैंने किंचित् रोष दिखाते हुए कहा – "स्त्रीजन-वंचक ! अपनी माया-यवनिकामें छुपकर अनादिकालसे मुझे न-जाने कितने-कितने रूप रखकर छलते आये हो, अब कबतक छलते जाओगे ? क्या मैं अन्धी हूँ, जो तुम्हें पहचानती नहीं हूँ, साड़ी पहनकर, स्त्रीरूप रखनेमात्रसे क्या मैं मूर्ख बन जाऊँगी ?" और मैं रोने लगी। मेरी बातोंका अर्थ सखी कुछ भी नहीं समझ सकी। परन्तु मैं भी क्या करती, उस काल मेरी ऐसी ही प्रेमदशा थी कि मुझे वृन्दावनमें, आकाशमें, सूर्य, चन्द्र सभी रूपोंमें प्रियतम ही प्रियतम भरे दृष्टिगोचर हो रहे थे। मुझे यही अनुभव हो रहा था कि सखीका रूप रखकर सचमुच ही प्रियतम ने ही मेरे नेत्र मूँदे थे। मुझे भावाविष्ट एवं रोती देखकर प्रियतम मुझे अतिशय स्नेहसे ढाढस दिलाने लगे।

मैंने कहा – "बैठो ! अब मेरी बारी है। मैं तुम्हारे चक्षु बन्द करती हूँ। बतलाओ कौन है।" वे मेरे भोलेपनसे मुसकाने लगे। मैंने उनके नेत्र बन्द किये और पूछा – "बोलो प्रियतम कौन है ?" उन्होंने कहा – "तुम" ।

बस, मैं पुनः उनपर बिगड़ गयी। सम्पूर्ण जीवन तुम 'तुम' ही कहते रहोगे। 'तुम तो परत्व होता है। मेरा नाम क्या 'तुम' है ? 'तुम' तो अपनेसे पृथक् करनेकी, काटनेकी बात है। मेरा नाम क्या 'मेरी', 'अपनी' कहते लज्जा आती है? कभी 'मेरी', 'अपनी' भी कहोगे कि 'तुम, तुम' रटते रहोगे ?' मैं मचले जा रही थी। और वे प्यारसे अश्रु बहा रहे थे। "तुम अकाट्य, अखण्ड, नित्य मेरी

हो। मैं अपने अस्तित्वकी सौगन्ध खाकर कहता हूँ, तुम त्रिकालमें कभी मुझसे भिन्न नहीं थी। तुम मुझसे भिन्न हो ही नहीं सकती।"

मैं उनकी वाणी सुन रही थी। प्रीति और प्रियतम दो कहाँ हैं ? मैं देख रही थी। प्रीति ही कृष्णाकृति बनी मेरे बाहर खड़ी है और वही मेरे नेत्रोंसे मेरे हृदय-देशकी ओर उमड़ी बह रही है। जैसे सरिता वर्षाऋतुमें उमड़कर तटोंको आप्यायित करती है, विलीन कर लेती है। वे मुझे विलीन करने मेरे हृदयमें उमड़ पड़े हैं। मैं डूब रही हूँ, वे उफन रहे हैं।

भाईजी ! वे मेरे, मात्र मेरे हैं। कोई देश, काल, व्यक्ति, परिस्थिति, उनसे मुझे पृथक् कर सके – संभव ही नहीं है। जलसे भलेही मछलीको कोई पृथक् कर पावे, प्राणोंसे भलेही शरीरको पृथक् किया जा सके, वे मेरे मुझसे पृथक् हो ही नहीं सकते।

**राधा राधा राधा राधा**

---

## प्रसंग - पैंतीस (३५)

# अन्तर्प्राकट्य

रतनगढ़
**तिथि - अज्ञात**

मेरे प्राणवल्लभ ! मेरे जीवन सर्वस्व !! मेरे प्रियतम !!! मैं चीख उठती हूँ। साथ-ही-साथ अपने नेत्र कसकर बन्द कर लेती हूँ। मेरे नेत्रोंके भीतर प्रियतम प्रेमवर्षा करते प्रकट हो जाते हैं। मैं उनमें अपनेको एक करनेमें लग जाती हूँ। अरे ! आनन्दको आनन्दसे एक करनेमें, प्रेमको प्रेमसे एक करनेमें कठिनाई ही क्या है ? प्रेम उनका एवं मेरा कोई पृथक् थोड़े ही है। वह तो एक भाव ही है। इसी प्रकार उनकी सत्ता और मेरी सत्ताको एक करनेमें कहाँ कठिनाई आती है ? मैं उनसे अ ाना एकत्व करने ही जाती हूँ कि बाहरसे उनकी ध्वनि हृदयको स्पन्दित कर दे ो है – "प्राणेश्वरी ! नेत्र खोलो।"

मैं उनमें डूबी, उनके अन्तरालसे ही बोलती हूँ – "नहीं, मुझे अपने हृदयमें ही डूबी रहने दो। बाहर तुम छोड़कर चले जाते हो। बाहर सब कुछ कालान्तर्गत है, क्षणजन्मा, क्षण-भंगुर, क्षण-स्थित। तुम्हारे हृदयमें कालका प्रवेश ही नहीं। यहाँ तुम नित्य मे ! संगी हो। यहाँ तुम्हारा सर्वस्व मात्र मेरा है। बाहर तुमपर अनेकोंका स्वामित्व ै। तुम प्यार करना चाहो फिर भी, बाहर प्यार कर ही नहीं सकते। बाहर प्रीति मुरझा जाती है। यहाँ प्रीति परिपूर्ण विकसित है। बाहर देह है और देह, काम एवं भोगका ही पर्यायवाची नाम है। कोई देह रखकर कहे कि मैं भोगसे एवं कामसे परे हूँ, यह असंभव है। आकाशमें कोई भी शब्दसे परे हो ही नहीं सकता। सूर्यके समीप तापहीनता असंभव है। सागरमें रहकर कोई सुमिष्ट जल प्राप्त करे, असंभव है। लवणका खारापन सागरमें होगा ही। इसी प्रकार देह कामयुक्त होगी ही। अतः बाहर आते ही मैं कृष्ण-कामिनी हो ही जाऊँगी। यहाँ मैं कृष्ण-स्वामिनी हूँ।"

"आओ ! मेरे प्राणनाथ ! तुम भी मेरे हृदयमें उसी प्रकार आ जाओ, जैसे मैं तुम्हारे हृदयमें हूँ। यहाँ तुम्हें कोई कंस कभी मथुरा-निमंत्रण नहीं देगा। यहाँ कोई अक्रूर रथ लेकर नहीं आवेगा। यहाँ कोई कूबरी तुम्हें नहीं रिझा पावेगी। यहाँ विशुद्ध प्यार-ही-प्यार है। यहाँ तुम मुझे अखण्ड अपनी गोदमें ही भले

रखना। यहाँ मैं अन्धी भी हो जाऊँ तो भी तुम्हे देखती रहूँगी।''

''प्राणवल्लभ ! जिस दिन तुम मेरे भीतर नहीं होओगे, उस दिन जीवनकी तो बात ही क्या मृत्यु भी मेरी नहीं होगी। कोई इसे माने या नहीं माने, मेरे जन्म एवं स्थितिकी बात तो दूर रही, मेरा प्रलय भी तुम्हारे-मेरे संयुक्त होनेसे ही है। जिस दिन तुम मुझे त्याग दोगे, उस दिवस प्रलय भी मुझे त्याग देगा।''

''प्रियतम ! अभी तो प्रभातमें अरुणायी है, कोकिलायें कुहू-कुहूगान कर रही हैं, पद्म खिल रहे हैं, यमुना कल-कल ध्वनिसे बह रही है, भ्रमर गुञ्जार कर रहे हैं, सम्पूर्ण वनमें शोभा भरी है, शीतल मन्द समीर बह रही है, पुष्प मुसका रहे हैं। देखो, देखो ! यह आम्रवृक्ष अपनी शाखायें हिलाकर मुझे आश्वस्त कर रहा है, प्रियतम हम सबके भीतर हैं, उनका हेतुरहित स्नेह हम सबको आप्यायित कर रहा है।''

''तुम, न रहो और सूर्यमें प्रकाश रहे, चन्द्रमा अमृत ज्योत्स्नासे सबको संस्पर्शित करें, धरती सबको धारण करे, असंभव है। जिस दिवस तुम्हारा आश्रय मेरे हृदयमें नहीं रहेगा, उस दिन जन्म एवं स्थितिके रहनेका तो प्रश्न ही नहीं, प्रलयकी गोद भी मुझे विश्राम नहीं देगी।''

''मूर्ख हैं वे, जो यह मानते हैं भूमि, प्राण हमारे हैं। यह वृन्दावन, यह यमुना, ये कदम्ब, ये पशु-पक्षी, क्या मुझ हतभाग्याको धारण किये हैं ? नहीं, नहीं, असंदिग्ध, इनमें कुछ भी मेरा नहीं है ? सब मात्र इसीलिये चतुर्दिक् क्रीड़ा–केलि होरही है, क्योंकि तुम इस रस विलास में समुत्सुक हो। क्योंकि तुम मुझे अपने गोदमें धारण किये हो, इसीलिये यह अति शोभापूर्ण आकाश मुझ पतिताको धारण करने प्रस्तुत हुआ है। जिस दिवस तुमने मेरे हृदय-स्थलको त्यागा, फिर मैं रहूँगी ही नहीं।''

राधा राधा राधा राधा

## श्रीमती ''राधारानीकी' महाभावोक्तियाँ
## (मंजुलीला (पू. राधाबाबा) के प्रति)
## एवं अन्य प्रसंग

## प्रसंग - छत्तीस (३६)

# मैं तो मात्र उनका सुख सजाती हूँ

रतनगढ़
तिथि - अज्ञात

मैं तो रानीकी सेविका हूँ। रानीकी रुचिके लिये प्रति दिवस कुञ्ज सजाती हूँ। दिवस-पर्यन्त वन-वन फिरकर अति सुन्दर-सुन्दर मनोहारी सुगन्धिभरे अगणित पुष्प चयन कर लाती हूँ। उनको वृन्तोंसे गूँथ-गूँथकर मालायें निर्माण करती हूँ और तब कुञ्जमें शय्या निर्माण करती हूँ। किन्तु वे नहीं आते। दिन बीते, मास बीते, परन्तु वे नहीं आये। एक दिवस रानीके सम्मुखं मुख खोल ही दिया । ''बहिन री ! जब वे आते ही नहीं, तो प्रति दिवस क्यों उनकी कामनामें यह सज्जा की जाय ?''

रानी तो विरहमें वैसे ही निरन्तर क्लान्त हो रही थी। उसने अपना उदास मुख ऊँचा उठाया और धीरेसे मुझसे कहने लगी – अरी मूढा ! क्या इन्द्रियोंका सुख-संस्पर्शही–मिलन मात्र प्रीति है ? क्या मैं देह-सुख सजाती हूँ ? मैं तो उनका सुख सजाती हूँ। मंजू री ! प्रतिदिन प्रभातमें प्राची अरुणाई में नहाती है; अपना प्रतिदिन श्रृंगार करके सायंकाल उषा निर्बाध उपस्थित होती है। यह यमुना अपने कूलोंको भिन्न-भिन्न पुष्पोंसे प्रतिदिवस ही आच्छादित कर देती है। प्रतिदिन ही ये कुञ्ज, ये वन, नित्य नयी सज्जा धारणकर श्रृंगार करते हैं। अरी बहन ! इस मयूर को देखन ! यह प्रतिदिवस ही अपने पुराने पंख गिरा देता है और नये-नये पंखोंसे सजता है। ये भ्रमर नये-नये गीतोंसे प्रतिदिवस ही वन गुञ्जारित करते रहते हैं। देख न ! अपने प्रेमी चातकके लिये प्रतिदिवस नये-नये मेघ उमड़ते हैं। परन्तु क्या ये अपनी स्वयंकी साज-सज्जा करते हैं ? नहीं री ! मंजु ! ये सभी अपने-अपने प्रियतमकी सुख-सज्जा करते

हैं। प्रतिदिन सभी पुष्पोंकी मुसकानको भ्रमर भोगें, यह क्या आवश्यक है ? पुष्प तो खिलेंगे ही, वे सब अपनी पूर्ण सुवास बिखेरेंगे हीं, चाहे भ्रमर आवें, न आवें। वे सायंकाल मुरझाकर बिखर जावेंगे; वल्लरियाँ पुनः दूसरे दिवस नवीन पुष्पाभरण धारणकर मुसकावेंगी, नवीन साज-सज्जासे प्रतिदिन अपना शृंगार करेंगी। भला वे अपने प्रियतमके सुखका आह्वान कैसे स्थगित कर देंगी ? प्रियतम तो परम स्वाधीन हैं, वे आवें, न आवें। प्रतिदिवस ही निशा अपना तारकावलियोंसे शृंगार करती ही है, परन्तु निशानाथ चन्द्र प्रतिदिवस उसे सौभाग्य-पद देता है ? अमावस्या हो, तो क्या निशा शृंगार नहीं करेगी ? अमावस्याके दिन तो उसका और अधिक शृंगार होता है। क्या वह कभी ऐसा सोचती है कि आज तो प्रियतम आवेंगे ही नहीं ? अरी, यमुनाकी अनन्त लहरियाँ तटोंसे टकराकर सूख जाती हैं, क्या वे सभी अपने प्रियतम सागरसे मिल पाती हैं ? परन्तु मंजू बहिन ! क्या यमुनाकी लहरें नित्य नये वेगसे उमड़ना स्थगित कर देती हैं ? सागरसे तो किसी सौभाग्यशालिनीका ही मिलन होता है। परन्तु सागर-मिलनका स्वप्न तो सभी सजाती ही हैं।

"बहिन मंजू री ! मैं तो मात्र उनका सुख सजाती हूँ। एक दिवस वे मेरे पास आये। निम्न-मुख किये खड़े हो गये। अहा ! कितने प्यारे लग रहे थे। मन उन पर न्यौछावर हो रहा था। उनका मुख किञ्चित् उदास था। मैंने कहा – "प्राणवल्लभ ! आज उदास क्यों हो ? वे मुझसे लिपट गये। उनके सरसिज-नेत्र अश्रुकण ढलका रहे थे। उनके मुखसे शब्द निस्सरित नहीं हो रहे थे। फिर भी वे किसी प्रकार कह सके – "रानी ! मैं अब तुमसे कभी नहीं मिलूँगा। मेरे मिलनेसे तुम्हारा सर्वत्र अपयश होता है। तुम तो मेरे सुखके लिये सबकुछ सह लेती हो, परन्तु भला इतना हृदयहीन मैं कैसे होऊँ ? अतः मैं अन्तिम बार तुमसे मिलने आया हूँ, अब कभी नहीं मिल पाऊँगा।" उनका मेरे प्रति हित भाव देखकर मेरा मन रुआँसा हो रहा था, परन्तु फिर भी मैं खिल-खिलाकर हँस पड़ी।

मैंने पूछा – "कहाँ रहोगे ? प्राणवल्लभ ! कहीं-न-कहीं तो तुम्हें रहना ही होगा। जिस भूमिपर तुम निवास करोगे, वह भूमि तो मेरा हृदय होगी ही। जिस आकाशके नीचे रहोगे, वह आकाश भी मेरा हृदयाकाश ही हो जायेगा। मैं तुम्हारे सब देशको, आकाशको, कालको अपने भीतर अमृतरूपमें धारण कर लूँगी। तुम मेरे हो, मुझसे पृथक् हो ही नहीं सकते। कोई शक्ति तुम्हें मुझसे पृथक् करे, यह संभव ही नहीं है।"

"देख री मंजु ! ये हरिणियाँ यदि अपने कृष्णसार मृगोंसे प्रीति करती हैं,

तो यह प्रीति कोई मेरे हृदयकी प्रीतिसे भिन्न थोड़े ही है। सम्पूर्ण विश्वमें प्रीति तो एक ही है वह चाहे स्वर्ग, नरक, पृथ्वी, पाताल, ब्रह्मलोक, सिद्धलोक कहीं भी हो। सभी लोक जहाँ प्रीति है, वह स्थल वृन्दावन ही है, उस प्रीतिके भोक्ता प्रियतम ही हैं, चाहे वे किसी कलेवरके रूपमें व्यक्त हो रहे हों, और वह प्रीति मेरी सत्तासे ही हो रही है।

सखि री ! अनन्त देशोंमें, अनन्त रूपोंमें, वे मेरे ही द्वारा प्रीतिसे सराबोर हो, सुख पा रहे हैं। मंजु ! उनका सुख ही 'राधा' है।''

राधा राधा राधा राधा

प्रसंग - सैंतीस (३७)

# मंजू री ! तन का त्याग, त्याग होता ही नहीं

**रतनगढ़**

**तिथि - अज्ञात**

कितने ही दिवसोंसे रानी तमाल वृक्षसे लिपटी पड़ी हैं। उन्हें होश ही नहीं – कब दिवस होता है और कब निशा आती है। मैं उनके पास निरन्तर बैठी रहती हूँ। जैसे वे थोड़ा होश करती हैं, यमुनाजल पिलानेकी चेष्टा करती हूँ। दो चार तुलसीदल ही उनका अन्न-ग्रहण है।

कुछ क्षण उन्हें जाग्रति हुई, तो मुझे अपने हृदयसे सटाकर कहने लगीं– "मंजू ! तनका त्याग, 'त्याग' होता ही नहीं। 'त्याग' तो तब होता, जब वे मुझे मनसे छोड़ देते। सखि री ! विश्वास कर, उनका मन मेरे पास है। उनके मनपर मेरा पूरा अधिकार है। तू तो मात्र उनके तनको यहाँसे दूर गया अनुभव कर रहा है। मंजु री। तनका आचरण देखना तो बहुत ही छिछली बात है। समुद्रकी समग्र रत्नराशि तो उसके अतल-तलमें रहती है। लहरोंमें तो तुम्हें मात्र खारा पानी ही तो मिलेगा।

"अरी बहिन ! क्या तू प्रियतमको मेरे सम्मुख खड़ा नहीं देख रही ? देख न ! वे भौंहें नचाकर मुझे बुला रहे हैं। परन्तु तू उन्हें नहीं देख पावेगी। अरी! तेरे मनमें वे नहीं हैं । तेरे मनमें वे पूरे भरे होते, तो एक क्षणभी तुझे अपनेसे पृथक् अनुभव नहीं होते। अरी बहिन ! अपना मन ही नयनोंका दृश्य बन जाता है। जब वे मेरे मनमें बसे हैं, तभी न खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते सभी समय वे मुझे अपने पास ही दिखते हैं।"

"अरी सखि ! विश्वास कर, तू जो उनपर लांछन लगाती है कि वे मथुरानगरकी स्त्रियोंसे आकृष्ट हो गये हैं, यह तेरा उनपर सर्वथा असत्य आरोप है। वे अवश्य कूबरीके घर गये हैं, उन्होंने उसे रतिदान भी किया है, बाहरी दृष्टिसे ये सभी बातें सत्य हैं, परन्तु यदि तू उनके भीतरी मनको देख पाती, तो उन्होंने कूबरीमें भी राधाकी प्रीति ही देखी होगी। वे राधाके ही पास गये हैं री !"

"चाहे कोई मेरी बातपर विश्वास करे, न करे, परन्तु वे 'राधा' ही देखते हैं, 'राधा' ही सुनते हैं, वे किसी अन्यसे प्रेम कर ही नहीं सकते। वे चाहे हजारों ही नहीं, करोड़ों स्त्रियोंसे विवाह कर लें परन्तु उनके सभी विवाह होंगे – मात्र राधासे । वे राधाके ही थे, राधाके ही हैं और राधाके ही अनाद्यनन्त रहेंगे।"

### प्रसंग - अड़तीस (३८)

# अनुशासन

**रतनगढ़**

**तिथि - अज्ञात**

सखी ललिता प्रियतमसे रुष्ट हो गयी है। उसने रानीपर शासन कर दिया है – "चाहे जो हो, तुम्हें थोड़ी कठोरता रखनी ही होगी। उनसे तू नहीं मिलेगी।" रानीने ललिताको सुस्पष्ट कर दिया है – "यह तो संभव ही नहीं कि वे सम्मुख मिलनेको उत्सुक हों और मेरे हाथ उनके आलिंगनके लिये उठें नहीं। नेत्रोंको भी मैं उनके रूप-पानसे निवृत्त करनेमें असमर्थ ही रहूँगी। मेरे नेत्र यदि विद्रोह करके उनके पास चले जावें, तो मेरा वश ही क्या है ?" और ललिता स्वयं भी यह भली प्रकार जानती है कि प्रियतमके सम्मुख रानीका हृदय धैर्य धारण करले, नियंत्रित रह सके – यह असंभवसे भी अधिक असंभव है। किन्तु ललिता यह सब समझ-बूझकर भी रानीको अनुशासित करनेपर तुली है।

उसने रानीको निकुंजमें बन्दकर चतुर्दिक कपाट लगा दिये हैं। रानीकी सेवाके लिये मुझे रानीके पास छोड़ दिया है। मुझे भी उसने अत्यंत तर्जित कर निर्देश दिया है कि यदि रानी कपाट खोलनेकी चेष्टा करे, तो मैं तत्क्षण ही उसे सूचना करूँ। निकुंजके बाहर भी ललिताकी विश्वस्त अनुचरी पहरेपर हैं। टोही पक्षियोंको भी निर्देश है कि प्रियतमकी पल-पल की गति ललिताको सूचित करते रहें।

रानीको दूरसे भी प्रियतमकी झाँकी नहीं मिले – ललिताने कठोरता पूर्वक ऐसी व्यवस्था कर दी है। सभी गवाक्षिकाओंको भी बन्दकर बाहर परदे लगा दिये गये हैं।

परन्तु यह क्या, ललिताने सब कपाट बन्दकर ज्योंही बहिर्गमन किया, प्रियतम आ गये। मैं आश्चर्यचकित थी। रानीने मुसकाकर कहा – "आओ प्राणवल्लभ !" और प्रीतिकी उमंगमें वे दोनों परस्पर आलिंगनमें गुँथ गये। रानी मानो उनकी वनमाला और प्रियतम उसके हृदय-हार हो गये। मैं लज्जावश द्वारके परदेकी ओटमें होकर, उन दोनोंकी प्रेमशोभा निरखने लगी। रानी उनके अंग-अंगसे एक थी और वे रानीके रोम-रोमसे मिलित थे।

भीतर जब सुवास महकती है, तो चाहे कितने ही कपाट लगे हों, गन्ध बाहर अनुभव होती ही है। प्रीति, चाहे किसी एकके भी हृदयमें पुष्पित-पल्लवित हो, उसके अंकुर सभीके हृदयोंमें स्फुटित होने ही लगते हैं। सागरमें जब ज्वार आता है तो किनारे आप्यासित होते ही हैं। रानी एवं प्रियतमके हृदयकी धड़कनें जब एक हो रही थीं, तो सखियाँ रह नहीं पायीं। उन्होंने निकुंजकी गवाक्षिकाओंसे भीतर झाँक लगायी और रानी एवं प्रियतमका मिलन-दर्शन उन्हें हो ही गया। ललिता सखीके प्राण भी रानीसे पृथक् तो थे ही नहीं। उसे रानीके प्रिय-मिलनका आभास नहीं हो, यह तो असंभव ही था।

उसने तरजते हुए कपाट खोले। उसके नेत्र क्रोधसे आरक्त हो रहे थे। ओठ अस्फुट शब्दोच्चारण कर रहे थे। आते ही उसने मुझसे प्रश्न किया – "प्रियतम भीतर प्रवेश हो गये ?" मैंने संकेतसे ग्रीवा हिलाकर सहमति जतायी। परन्तु तबतक तो प्रियतम रानीमें विलीन हो गये थे और रानी अकेली ही शय्यामें शयन कर रही थी। वे रानीके हृदय मन्दिरमें स्पष्ट आलोकित हो रहे थे। ललिताने दूसरा प्रश्न किया – "रानी प्रियतमसे मिली थी ?" मैंने मन्द मुसकाते हुए उत्तर दिया – "हाँ ।" उसने मुझसे पुनः पूछा – "अब वे कहाँ गये?" मैंने रानीका हृदय संकेतित कर दिया – "वे इसीमें प्रविष्ट होगये हैं।"

उसने पुनः प्रश्न किया – "वे कुंजके भीतर कैसे प्रविष्ट हुए, द्वार तो बन्द थे।"

मैंने अब ललिताके कण्ठमें अपनी भुजायें डाल दीं। ललिताकी आँखोंमें भी मेरे प्रति प्यार छलछला आया था। मैंने उससे कहा – "प्राणसखी ! प्रीति भी भला क्या जड़ द्वारोंसे अवरुद्ध हो सकती है ? वे तो रानीके हृदयसे प्रकट होते हैं और वे उसकी भाव-सत्ता हैं, उनपर कहीं कोई द्वारपाल बैठ सकेगा ? जबतक रानीके शरीरमें प्राण हैं, वे रानीसे मिलेंगे ही और जब प्राण ही रानीका संग छोड़ेंगे, तो वे रानीके प्राणोंको अपने भीतर समाये, आलिंगित किये चले जावेंगे।"

राधा राधा राधा राधा

प्रसंग - उन्चालिस (३९)

# संयोग-वियोग कुछ होता ही नहीं है।

रतनगढ़
तिथि - अज्ञात

"ललिते ! प्राण सखी !! जब तू मुझे इतना अधिक स्नेह करती है, तो मेरी बात क्यों नहीं सुनती ? मैं मानती हूँ कि तू अत्यधिक बुद्धिमती है और मैं महामूर्खा, भोली, भावुक एवं पगली। परन्तु मेरी बात सुननेसे तो तेरी कुछ क्षति होनी नहीं है।"

जब रानीने इतना आग्रह किया, और उसे समझाना चाहा, तो ललिता उसकी बात सुनने बैठ गयी। जब वह पूरे मनोयोगसे रानीकी बात सुननेको उद्यत हो गयी, तो रानी कहने लगी –

"बहिन ! मैं तुझे ऐसा उपाय बता देती हूँ कि जिससे फिर प्रियतम श्यामसुन्दर कभी हमसे पृथक् हो पावें ही नहीं। यह ऐसा वशीकरण-मंत्र है जिससे प्रियतम कदापि इधर-उधर हो ही नहीं सकते।"

ललिताकी उत्सुकता चरम सीमातक पहुँच गयी थी। रानीने उसके कंठमें अपने दोनों हाथ अत्यंत प्यारसे डालदिये और अति स्नेहसे उसे देखने लगी।

ललिता झुंझला गयी। कहने लगी – "तुझे बस, कहना तो कुछ है नहीं, मात्र मुझे प्रेमसे भरमाना है। रानी कहने लगी – बहिन देख, रुष्ट मत होना। जब मैं 'राधा' रहती हूँ, तभीतक न मुझमें प्रियतमसे मिलनेकी इच्छा होती है। और मेरी इच्छा पूर्त्तिके लिये तेरा आग्रह होता है कि वे आवें। और उनके अन्यत्र चले जानेपर तुझे क्षोम होता है। अतः मैंने निष्कर्ष यही निकाला है कि सभी समस्याओंका मूल मेरा 'राधा' होना है। जब सभी दुखोंका हेतु ही 'राधा' होना है तो मैंने अब निश्चय कर लिया है कि 'राधा' ही नहीं रहूँगी।"

"सखी ! तू मुझे नील निचोल न पहनाकर बस, पीताम्बर पहनादे।' चन्द्रिकाका पर्याय मोर-मुकुट हो जायगा। एक बाँसकी बाँसुरीमें फूँक लगाऊँगी और श्यामसुन्दर हो जाती हूँ; बस झंझट ही सदाके लिये समाप्त।"

ललिता रानीकी बात सुनकर मुसकाने लगी। बोली – "जब तू श्यामसुन्दर

बनी राधाको वन-वन ढूँढेगी, तो वह कहाँसे आवेगी ?"

रानी यह सुनकर विचारमें पड़गयी। परन्तु कुछ ही कालमें सोचकर बोल उठी – "अरी, 'राधा' तो मैं हूँ ही।"

"तो अब श्यामसुन्दर नहीं हैं न ?" उसका सटीक उत्तर था।

रानी झुँझला उठी। यह खूब भूल-भूलैया रही ! जब प्रियतम होते हैं, तो मैं नहीं रहती, और जब मैं होती हूँ तो प्रियतम नहीं होते। परन्तु कुछ ही कालमें रानीके चित्तमें इस समस्याका भी समाधान आगया। वे बोल उठीं – "ललिता ! ठीक तो है, जब वे रहते हैं, तो मैं उनमें समा जाती हूँ और जब मैं होती हूँ, तो वे मुझमें समा जाते हैं, फिर वियोग तो है ही नहीं।"

परन्तु ललिता इसे मात्र रानीका पागलपन ही मान रही है। रानी उसे समझा ही नहीं पा रही कि संयोग-वियोग कुछ होता नहीं है।

**राधा राधा राधा राधा**

प्रसंग - चालीस (४०)

# प्राणेश्वरी ! क्या मैं तुझे छोड़कर कहीं जा सकता हूँ?

रतनगढ़

तिथि - अज्ञात

प्रियतम मथुरा चले गये हैं। रानीने जबसे उन्हें विदा दी है, उन्हें होश ही नहीं है। प्रायः अर्ध-चेतनामें "प्रियतम-प्रियतम" पुकारती वन-वन भटकती रहती हैं। वन ही, गिरि-परिसर ही उनका स्थायी निवास हो गया है। मैं उनके पीछे-पीछे छायाकी तरह लगी रहती हूँ। आज तो उन्होंने अपना वेश भी बदल लिया है। नीली साड़ी उतारकर पीताम्बर पहन लिया है। श्रीकृष्णाविष्ट हुई श्रीकृष्ण बनी बोलरही हैं। उन्होंने मुझे राधा मान लिया है और मेरे गले लगकर कह रही हैं –

"प्राणेश्वरी ! क्या मैं सचमुच तुम्हें छोड़कर कहीं भी जा सकता हूँ ? मैं तो जानता ही नहीं, कहाँ मथुरा है ? मेरा सम्पूर्ण हृदयस्थल तो राधा-ही-राधासे भरा है, वहाँ मथुरा एवं अक्रूर, साथ ही उसका इतना बड़ा रथ समा ही कैसे सकता है ? जहाँ सर्वत्र राधा-ही-राधाकी घन-सत्ता लबालब भरी हो, वहाँ एक सूईकी नोकका अरबवाँ हिस्सा जितना तो स्थान रिक्त है नहीं, उसमें अक्रूर एवं मथुरा, कंस तथा कूबरी कैसे भला प्रवेश कर सकती हैं ? कंस तो भय है। प्राणेश्वरी ! तू तो सदा मुझे अपनत्व और आत्मीयताके सिन्धुमें डुबोये रखती है, अब, भला कोई भी क्या अपनत्व, प्रीति, आत्मीयताको त्यागकर भयकी नगरीमें प्रवेश करेगा, कर सकता है ? प्रिये ! जब तू मुझे अपने इस प्रीति-सुधासागरसे निकाल देगी, तभी न, बहिर्मुखी होकर मैं मथुराकी बात ही सोच सकता हूँ। मैं तो प्रिये ! एक क्षणके लिये भी तेरे आलिंगनसे मुक्त नहीं हो पाता। मुझे तो अक्रूर, कंस, कूबरी, मथुराका स्वप्न भी नहीं आ पाता। मेरा तो स्वप्न, जागरण एवं सुषुप्तितक तुझसे आप्यायित है। मेरा तो स्वप्न भी तेरे प्रेम-सौन्दर्यसे भरा रहता है। मेरी तो निद्रा ही तेरे माधुर्यसे छलक रही है। तेरे प्रेम-संस्पर्शसे जब मेरे प्राण-प्राण पुलकित हैं, सर्वत्र आनन्द-गन्ध महक रही

है, जब मेरे प्राणोंका प्रत्येक स्पन्दनतक 'राधा' 'राधा' भ्रमरवत् गुंजार कर रहा है, वहाँ इस मथुराकी कल्पना भी हुई कैसे ?"

"आओ प्रिये ! प्रेम-वृन्दावन हमें पुकार रहा है। कालिन्दी ने आज प्रेमभरा पद्म-शृंगार किया है। प्रीतिभरी यमुना अपनी सौन्दर्य-शौभासे पद्माका तिरस्कार कर रही है। कृष्ण घन उमड़ रहे हैं। राधा मयूरी-नृत्य कर रही है। मथुरा केवल भ्रमका ही पर्याय है।"

**राधा राधा राधा राधा**

प्रसंग - एकतालीस (४१)

# यमुनाके मैं पार जा ही नहीं सकता था

रतनगढ़

तिथि - अज्ञात

अब तो समग्र वन ही सूख गया है। सूखे, बिना पातके कदम्ब एवं तमाल प्रेतोंकी तरह खड़े हैं। यमुनाकी अति क्षीण धारा बह रही है। उसमें न तो पद्म प्रस्फुटित हैं, एवं न ही भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। यह वही कदम्बवृक्ष है, जहाँ प्रतिदिवस ही प्रियतम गोचारण करके आते थे एवं रानीसे मिलते थे। रानी इस कदम्बको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जातीं। यहीं भूलुंठित इस कदम्बसे लिपटी पड़ी रहती हैं। मैं यथाशक्ति उन्हें सम्हालनेकी चेष्टा करती हूँ। ललिता, विशाखा, चित्रा, इन्दुलेखा, सभी जैसे प्राणशून्य, केश बिखराये, धूलि-धूसरित अर्ध-चेतनदशामें इधर-उधर किसी-न-किसी स्थलमें प्रियतम-स्मृतिमें तल्लीन पड़ी रहती हैं। मैं प्रति घड़ी, दो घड़ीमें सबके सूखे कंठोंमें जल एवं तुलसीदल अर्पण कर आती हूँ। अतिशय क्षुधातुर प्राणोंको कभी कदलीफल, कभी आम्ररस, खिलानेकी चेष्टा करती हूँ। कभी रानीको कुछ ढ़ाढ़स हो, इसलिये कोई चर्चा छेड़ बैठती हूँ। एक दिवस मैंने अत्यंत तेज ध्वनिमें कहा – "अरी, ललिता ! ओ, विशाखा !! देखो प्रियतम मिल गये। उठो री, शीघ्रता करो, मुख प्रक्षालन करो और केशराशि सँवारो। लो, ये आम्रफल खाकर कुछ चित्त चेतन करो और रानीका श्रृंगार करो।" सभी सखियोंमें जैसे प्राण संचारित हो उठे, सभी चेतन हुई मेरे पास चली आयीं। मुझे घेरकर सभी उत्सुकतासे मेरा मुख देख रही थीं। रानी भी अर्ध-जाग्रत् मेरी ओर समुत्सुक निहार रही थी। मैंने पहले सभीको कदलीफल और आम्र खानेका निर्देश दिया। रानीको अपने हाथसे आम्र खिलाया। जब सभी सखियाँ कुछ चेतन हुईं, तो मैंने कहना प्रारंभ किया – "बहनों ! मैंने सोचा, वे वृन्दावनसे चले गये, तो पृथ्वीमें तो होंगे ही। वे इस वनाकाशसे चले गये, परन्तु कहीं-न-कहीं किसी आकाश-खण्डके नीचे तो होंगे ही। अरी ! वे यमुनाके इन घाटों, कुञ्जोंमें नहीं आते, परन्तु किसी-न-किसी कूप, सरोवर, नदीका जल तो पान करते ही होंगे ? सूर्यके प्रकाशको तो नहीं ही त्याग गये, कहीं-न-कहींकी वायु तो उनमें प्राण संचार कर ही रही होगी ? अतः मैंने उन्हें

ढूँढनेका निर्णय ही कर लिया। मैंने निश्चय कर लिया कि मैं मथुरामें भी उन्हें ढूँढ निकालूँगी। अरी ! वृन्दावनकी कोई सीमा थोड़े ही है। यह सीमा तो हमारी मान्यतासे है। हम वृन्दावनकी सीमाको बढ़ाकर मथुराको वृन्दावनके अन्तर्गत भी तो कर ही सकती हैं। वृन्दावनके आगे कोई अलंध्य दीवार तो है ही नहीं, कि वृन्दावन मथुराको अपने भीतर नहीं ले सके। अरी! जब वे ललिताकुंजमें जाते थे, तो हम सभी एवं विशाखा सखी भी ललिताकुंजको अपना ही कुंज समझती थीं। इसी प्रकार जब वे विशाखाकुंज में होते, तो हम एवं ललिता रानी भी विशाखाकुंज को अपना ही कुंज समझती थीं। इसी प्रकार चलो कुबड़ीको भी अपनी सखि बनालें, इस प्रस्तावसे मैंने मथुरा-यात्राका भी मन बना लिया। अरी, मैंने उन्हें मथुरामें सर्वत्र ढूँढा, परन्तु वे मिले ही नहीं। इसके पश्चात् मैंनें द्वारका की भी यात्रा की। सोचा, रुक्मिणी, सत्यभामा एवं भालुपुत्री (जाम्बवती) को सखी बना लिया जाय। अरी, रानी भानुतनया हैं, वे भालुतनया हैं। 'न' और 'ल' मात्र दो अक्षरोंका ही तो अन्तर है। सब प्रियतमकी हैं तो अपनी ही तो हैं। परन्तु वे वहाँ भी मुझे नहीं मिले। मथुरा, द्वारकामें कोई द्वारकाधीश, मथुराधीश चारभुजाके ईश्वर अवश्य विराजित थे। अरी, कूबड़ीके पास वे गये ही नहीं थे। हम झूठे ही बिचारी कूबड़ीको कोस रही थीं।

अब तो रानी अति समुत्सुक मेरी ओर जागरूकतासे निहारने लगीं। मैंने सभी सखियोंके सम्मुख कुछ फल और रखे और रानीको अपने हाथसे खिलाने लगी। रानीने दो-चार कौर लिये और पुनः पूछा – "तो, वे मिले ?"

मैंने कहा – "हाँ, मिले री ! तू दो-चार कौर खा तो ले।" किसी प्रकार इस तरह मैंने रानीके उदरमें दो-चार कौर फलोंके उतारे।

मैं कहने लगी – "अरी, मैं उन्हें सर्वत्र ढूँढती फिरी। जब वे पृथ्वीमें नहीं मिले, तो मैंने उनको आकाशमें ढूँढा। आकाशमें अनन्त-ब्रह्माण्ड तैर रहे थे। सभी ब्रह्माण्डोंमें विचित्र गुणावगुणमयी सृष्टियाँ थीं। परन्तु वे किसी भी ब्रह्माण्डमें नहीं थे। मैंने सम्पूर्ण आकाश भ्रमण किया, परन्तु वे आकाशके किसी भी खण्डमें नहीं थे। मुझे सूर्य-लोकमें अत्यन्त तेजस्वी देवी-देवता मिले, मैंने उन सबमें अपार रूप और शक्तिके चमत्कार देखे। मुझे बहुत वैभव दिखाई पड़ा, परन्तु वे नहीं मिले।"

"मुझे अन्तर्यामी ईश्वरके दर्शन हुए, मैंने ब्रह्म-साक्षात्कार किया, परन्तु वहाँ भी वे नहीं थे। मुझे न ईश्वर चाहिये था, न ब्रह्म; मुझे न शक्तिनिकेतन, न देवता, न ऋषि, न तपस्वी, न ब्रह्मा, न शिव, न विष्णु – कोई भी नहीं चाहिये था। अतः इन सभीको मात्र प्रणाम करके मैं उपेक्षासे अपनी आगेकी यात्रा करती

रही। मुझे तो न शुद्ध चाहिये था, न बुद्ध, न निर्मल, न ही पवित्र। सभी लोक-लोकान्तरोंमें उन सबके अधिदेवता विराजित थे। मुझे तो उनसे कोई प्रयोजन ही नहीं था। मैं हार-थककर चूर हो गयी। जब मैं परमाकुल हो उठी तो मैंने आर्त्त-स्वरमें पुकार की। जैसे ही मैंने 'प्रियतम' ! 'प्रियतम' ! पुकार लगायी कि वे वहीं प्रकट हो गये । मैं उनके कण्ठसे लग गयी। वे मुझे अतिशय प्यार करने लगे। मैंने उनसे पूछा – "प्राण ! तुम किस देशमें रहते हो ? अक्रूर तो तुम्हें रथमें बैठाकर मथुरा ले गया था, परन्तु मुझे तो तुम मथुरामें नहीं मिले ?" उन्होंने हँसकर कहा – मैं यमुनाके पार जा ही नहीं सकता था। अतः इस पार ही रह गया था। अक्रूर तो कंसारि चतुर्भुज नारायणको लेकर मथुरा चला गया था। मैंने उनसे पूछा – "तो अब तुम कहाँ रहते हो ?" उन्होंने कहा – "मैं तो मेरी प्रियाके हृदयमें ही रहता हूँ।"

"बहिनों ! एक परमाश्चर्य, मैंने और देखा – वे विचित्र श्रृंगार धारण किये थे। पीताम्बरके रूपमें तो उनके तनसे रानीका तन लिपटा था। रानीकी भुजायें ही उनकी वनमाला थी। रानीके स्नेहका हर्ष-विकार ही मयूर-मुकुटके रूपमें उनकी बुद्धिरूप मस्तिष्कको अलंकृत कर रहा था। रानीका मन ही उनके विशाल चंचल नेत्र थे। रानीके शरीरका तमोगुण उनके नेत्रोंमें काजलके रूपमें लगा था। रानीकी वृत्तियोंके रजोगुणको वे अपने हृदयमें स्वर्णरेखाके रूपमें धारण किये थे। और रानीके हृदयका सतोगुण उनकी दंतमुक्ताकी छटा थी। रानीकी शक्ति-सामर्थ्य ही उनकी भुजायें थी, रानीकी गतिशीलता ही उनके चरण थे। रानीके हाव-भाव और भ्रू-नर्त्तन ही उनका नृत्य था। अरी बहिनों ! रानीकी वाणी ही उनके चरणोंके नूपुर थे और रानीके लिये 'हा ! प्रिये ! हा ! प्रिये ! उनकी प्रेमाकुल चीत्कार ही वेणुवादन था। अरी सखियों ! रानीकी प्रगाढ़ प्रीतिही उनके अधरोंकी मुसकान थी। रानीका जो प्रियतमके प्रति प्रगाढ़ राग है वही उनके अधरोंकी लालिमा थी। रानीके हृदयकी लज्जा ही उनके कपोलोंकी दमक थी। रानीका आलिंगन ही उनकी स्पशेन्द्रिय त्वचा, रानीका 'रा' एवं 'धा' नाम ही उनकी दोनों श्रवणेन्द्रियाँ थीं। रानीका सुयश-वैभाव ही उनके कुण्डल तथा रानीकी इच्छा ही उनकी बुद्धि थी। रानीकी संकल्प-विकल्पात्मक वृत्तियाँ ही उनका मन, रानीके वस्त्र ही उनके अंगोंकी श्याम कान्ति, रानीकी मुसकान उनके भूषण, अलंकार थे। रानीका अधरामृत ही उनकी रसनाका स्वाद, रानीके अंगोंकी सुवास ही उनकी नासिका थी। रानीका अस्तित्व उनकी सत्ता एवं रानीका हृदय ही उसका निवास था। अरी बहिनो ! वे रानीकी स्मृतिमें झर-झर अश्रु गिरा रहे थे। वे कहरहे थे कि "मैंने रानीसे पृथक् अपनी स्वतंत्र-सत्ता

रखकर रानीको बहुत कष्ट दिया। वे मेरी स्मृति करती सदा विरह-वियोग सहती रही। पृथक् सत्ता रहनेपर तो विलगत्व अवश्यंभावी है। मैं मेरी प्रियासे मिलता था, तो उसका लोक-अपयश होता था। अतः मैंने अक्रूरको मात्र अपना सहायक बनाया। मैं उसके रथपर बैठकर लोक-दृष्टिसे तो मथुरा चला गया। परन्तु वस्तुतः तो मैं मेरी प्रियाको त्यागकर एक पग भी इधर-उधर नहीं हो सकता था।"

"अरी मंजु ! मेरी प्रिया रानीके समान विश्वमें कोई प्रेमी न तो हुआ था, न हुआ है, न ही भविष्यमें भी होगा। संसारमें सब कोई अपनी कुछ-न-कुछ सत्ता रखते हैं। उनका अहं होता है, अहंकी मंगल-कामना होती है, अहंका संसार होता है, रुचि होती है, गुण-अवगुण होते हैं, रूप होता है। मात्र मेरी प्रिया ही ऐसी है, जिसका सबकुछ मात्र मेरा है। उसकी स्वतंत्र कोई रुचि नहीं, उसका अपना कोई संसार नहीं, उसके अपने कोई कर्म नहीं, उसका धर्म नहीं, उसकी गति नहीं, उसका सबकुछ एकमात्र मैं ही हूँ।"

"मैं उसको जिस रूपका वस्त्र पहनाता हूँ, वह निस्संकोच वैसी ही सज जाती है। बता री मंजू ! तू तो पूरे साढ़े तीन हाथकी है, क्या तुझे कोई अपने नेत्रों में आँजेगा तो तू अँज जायगी, कदापि नहीं। परन्तु मेरी राधा ऐसी है कि मैं उसे अपने नेत्रोंमें रख लेता हूँ, तो मेरी पलकोंमें ही निवास कर लेती है। अरी ! मैं ज्योंही पलक गिराता हूँ, तो वह मेरे हृदयमें आसन लगाये दिखती है और पलक उठाता हूँ, तो बाहर बैठी हँसती रहती है। वह मेरी प्रिया आठोंयाम मेरे पास ही रहती है। मैं चलता हूँ तो वह साथ चलती है, सोता हूँ तो मेरी निद्रा बनकर मुझे विश्राम देती है, उठते-बैठते खाते-पीते, आठोंयाम वह मेरी प्रेम-दीवानी है। उसे मैं दोष लगाता हूँ तो वह दोषी हो जाती है, कभी प्रतिवाद नहीं करती। मेरी रूचि ही उसका सब चरित्र है। वह मेरी रुचिके लिये सब लांछन सहती है। उस प्रियाके सिवा मेरा कहीं कोई नहीं है। मात्र वही मेरी है, अतः उसके हृदयको छोड़कर मैं अब एक पल भी बाहर नहीं आऊँगा। वही मेरा स्थायी निवास रहेगा।"

मैं यह सब कह ही रही थी कि रानीको गाढ़ आवेश हो गया। वे, "हा प्राणनिकेत ! कह कर दौड़ पड़ी। उन्हें यही दृष्टिगोचर हो रहा था कि उनके प्राणवल्लभ सामने खड़े हैं। सभी सखियाँ – सखि ! सखि ! कहतीं उनके पीछे पागलकी तरह दौड़ पड़ीं। कहीं रानीको ठोकर नहीं लग जाय। उसके सुकोमल चरणोंमें कोई कंटक क्षति नहीं कर दे। सखियोंने उसे अपनी बाहुओंमें निबद्ध कर लिया। रानी वहीं सखियोंकी गोदमें पुनः मूर्च्छित हो गयीं। मैंने गगरी

उठायी और सूने यमुनाघाटसे जल लाने चल पड़ी। अब रानीको न-जाने कितने कालतक, फिर इस भाव-मूर्च्छामें मुझे ही सम्हालना है। मैं जानरही हूँ, रानीके संग ही सभी ललिता, विशाखादि भी प्रियतम स्मृतिमें इतनी तल्लीन होनेवाली हैं कि सबकी सेवा संभाल मुझे ही करनी होगी ।

राधा राधा राधा राधा

---

प्रसंग - ब्यालीस (४२)

# क़ीर्त्तिदाके यहाँ जन्म लेने पर भी वहाँ मेरा जन्म हुआ ही नहीं

रतनगढ़

तिथि - अज्ञात

मंजू, री ! जिसे तू 'राधा' नाम-रूपसे जानती है, वह तुम्हारी सखी राधा है ही नहीं। तुम मुझे कीर्त्तिदाकी औरस जात कन्या समझती हो, परन्तु यह अति विलक्षण सत्य है कि कीर्त्तिदा मैयाके यहाँ जन्म लेनेपर भी वहाँ मेरा जन्म हुआ ही नहीं। भाद्रपद शुक्ला अष्टमी मेरी जन्म-तिथि है ही नहीं। जिसे तू वृषभानुमहलमें क्रीड़ा करती देखती है, वह क्रीड़ा ही मेरी नहीं है। जिसे तू अनेक श्रृंगारोंसे सजाकर वन-वन लिये डोलती है, वह मेरा रूप ही नहीं है। जो शब्द इस समय तेरे सम्मुख उच्चारित हो रहे हैं, सखि ! वे मेरे शब्द होते हुए भी सत्यांशमें मेरे शब्द नहीं हैं। मैं जो तुझे स्पर्श कर रही हूँ, यह मेरा वास्तविक संस्पर्श है ही नहीं।

यदि तू मुझे सचमुच ही देखना चाहती है, तो योग्यता प्राप्त कर – जिससे तू नन्दभवनमें क्रीड़ा करते यशोदोत्सङ्गलालित श्यामल मयूर-मुकुटीके हृदयमें प्रवेश पा सके। वहाँ नन्दभवनके आँगनमें मैं मुसका रही हूँ। उस मुसकानमें ही तुम्हें मेरी सत्ता कभी दृष्टिगोचर हो सकती है, क्योंकि उसका सुख ही मेरी सत्ता है। उसके नेत्रोंमें झाँकते-झाँकते कभी तुझे मेरे नेत्र दिख सकते हैं। क्योंकि वह मेरे नेत्रोंसे ही देखता है। जिसे तू 'प्रियतम' 'प्रियतम' पुकारती है, वह तो मेरी मात्र कठपुतली, यंत्र है री । हाँ ! उस यंत्रके साथ यंत्रीरूपमें मेरा नित्य संयोग है। हाँ, यदि तू उससे सच्चा प्रेम करेगी, तो कहीं-न-कहीं तुझे उसमें मेरा रूप भी दिख जायेगा। क्योंकि वह मेरे ही रूपसे रूपवान् है। जब तू उसकी सत्यांशमें हृदय-हार बनेगी, तो तुझे उस हृदयकी अन्यतम स्वामिनीके रूपमें मेरा परिचय भी अवश्यमेव प्राप्त हो जायगा।

सखिरी ! मेरे जन्मका कोई काल ही नहीं है क्योंकि कालान्तर्गत मैं हूँ ही नहीं। काल तो मेरा ईक्षण-मात्र है। इसी प्रकार मेरा एक कलेवर भी नहीं

है। विश्वमें जितने कलेवर हैं, मेरे ही हैं। हाँ ! यह सत्य है कि असीम, अनन्त विस्तारवाली मैं विरुद्ध-गुणधर्माश्रयी हुई नन्दसुतके हृदयमें परिच्छिन्न हूँ। वही मेरा मन्दिर है। उसका सर्वसुख विधान करना मेरा कर्म है। वही हृदय मेरा आँगन है, जहाँ मैं रसरास-समन्वित विलास करती हूँ। वही मेरा निभृत-निकुंज है, जहाँ मैं पूर्ण विश्राम करती हूँ। वह मुझसे अविभक्त, अभिन्न है।"

राधा राधा राधा राधा

## प्रसंग - तैंतालीस (४३)

# उनका कुछ तो मेरे पास है, संयोग नहीं, वियोग ही सही

रतनगढ़
तिथि - अज्ञात

रानीको कुछ होश हुआ है। उसने अपने सरसिज-नेत्र कुछ विकसित किये हैं। मेरे हर्षकी सीमा नहीं है। विगत तीन दिवसोंसे तो उसने जलकी बूँद भी ग्रहण नहीं की थी। सहसा वह उठकर मेरे गले लग गयी और कहने लगी– "मंजू री ! क्या तुझे सत्य पता है कि प्रियतम मथुरा गये ? नहीं, नहीं, हमने अक्रूरकी बातोंसे ही विश्वास कर लिया कि वे मथुरा जा रहे हैं। अरी, मैंने तो बस, उनको इस उदुम्बरके वृक्षतक ही देखा था। इसीलिये, बस, यहीं पड़ी रहती हूँ। यहाँसे रथने दिशा बदल ली थी, और वे मुसकाते मेरे नेत्रोंसे ओझल हो गये थे।"

"अरी मंजू ! कहीं अक्रूर उन्हें नन्दभवनसे रथमें बैठाकर मेरे हृदय-देशमें तो नहीं पहुँचा आया है ? जिस दिन अक्रूर उन्हें लेने आया था, उसी दिवस वे मेरे पास आये थे, री ! उनके नेत्रोंमें अश्रु छलछला रहे थे। मैंने उनसे कहा – "प्राणवल्लभ ! तुम क्यों रोते हो ?" तो कहने लगे – 'प्रिये ! प्रारब्धवश यह देह मथुरा जा रहा है, परन्तु तू मुझपर अविश्वास मत करना, तू मेरे हृदयमें सदा बसी रहेगी। मैं उनके आलिंगनमें गुँथ गयी थी, री। उन्होंने उस दिवस इतनी प्रेमवर्षा की थी कि मैं उनके प्रेमसे मूर्च्छित ही हो गयी। उस मूर्च्छावस्थामें ही वे मथुरा चले गये। ऐसा मैंने सुना अवश्य था, री।"

"परन्तु, बहिन री, तुझे सत्य कहती हूँ कि ज्यों ही मेरी मूर्च्छा भंग हुई, वे तो मुसकाते मेरे सम्मुख अनन्त प्रीति न्यौछावर कर ही रहे थे। अरी सखि ! जबतक वे अक्रूरके रथपर नहीं बैठे थे, तबतक तो वे मुझसे पृथक् भी होते थे। उनसे प्रतिदिवस ही वियोग होता ही था। प्रतिदिवस वे गौएँ चराने जाते थे, तो मेरे नेत्रोंसे पृथक् होते ही थे, वे माँ यशोदाके पास रहते, तो वियुक्त होते ही थे, इसी प्रकार चन्द्रावली आदिके कुञ्जमें जाते, तब भी उनसे वियोग हो ही जाता

था, परन्तु अब तो वे एक क्षण भी नेत्रोंसे नहीं हटते, मेरी पलकोंको ही उन्होंने अपना स्थायी निवास बना लिया है।

"अरी बहिन ! यदि वे सचमुच ही मथुरा चले जाते, तो मेरे प्राण भी उनके साथ मथुरा चले जाते, री। मेरी इन्द्रियाँ भी उनके बिना रह ही नहीं सकती थीं। तो फिर मेरे नेत्र, कान, नासिकादि सभी इन्द्रियाँ सीधी मथुरा पहुँचतीं। मेरे प्राण इस शरीरसे जुड़े हैं, यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि वे यहीं हैं और मेरे प्राणोंका उनसे संयोग है।"

"अरी बहिन ! रूपका ऐसा बल होता है कि वह नहीं चाहनेपर भी नेत्रोंको अपनी ओर आकर्षित कर ही लेता है। अरी, सुमधुर स्वरमें भी ऐसा बल होता है कि बलात् कानोंको अपनेमें उलझा लेता है, अपनी ओर आकृष्ट कर ही लेता है। शिशुओंकी तोतली बोली और बाल-सुलभ चेष्टाओंमें ऐसा बल होता है कि वे मनुष्यका मन आत्मीयतासे भर देते हैं। स्त्रियोंके यौवनमें ऐसा बल होता है कि उनके मोहिनी रूपमें शिवजी बाबा जैसे समाधिनिष्ठ तपस्वी भी स्खलित हो ही गये थे।"

"मंजू, री ! गिरिराजमें भारका बल, यमुनामें प्रवाहका बल, सूर्यमें तेजका बल, वायुमें प्राणशक्तिका बल है। क्या राधाकी प्रीति सर्वथा निरीह है, री ? राधाके प्राणवल्लभको अक्रूर रथपर उठाकर ले गया और राजा कंसको चन्दन-लेप प्रस्तुत करनेवाली कूबड़ीने उन्हें अपने आँचलमें समेट लिया ? जिन्होंने कंसके बलको चूर-चूर कर दिया, वे राधावल्लभ कूबड़ीके नयनोंकी मारसे घायल हो गये और उसकी भुजाओंके कारागारमें बँधे पड़े हैं ?

"बहिन ! मंजूरी !! तू इस निरीह परम अबला अति दीना करुण-क्रन्दनरता राधाको त्याग दे, री। राधामें प्रीति है ही नहीं।"

"अरी, गजकी पुकार इतनी सबल थी कि वे गरुड़को भी त्यागकर वैकुण्ठसे पैदल दौड़कर उसे बचाने चले आये, द्रोपदीकी आर्त्तिमें भी इतना बल था कि उसने उन्हें अपना अधोवस्त्र बना लिया। सुदामाकी मैत्रीमें बल था कि उन्होंने उसे दो तन्दुलके बदले अपनी चरण-सेविका लक्ष्मी दान कर दी। निश्चय ही राधा प्रीतिहीना है, री ।"

विरहकी असह्य वेदनासे रानी अतिशय व्याकुल हो उठी। उसके वक्षोज और वस्त्र सभी आँसुओंके प्रवाहसे भीग गये। रोते-रोते उनकी हिचकियाँ बँध गयीं। वह अति विह्वल हुई, बोलती जा रही थी – "मंजू, री ! बोल, मैं क्या साधना करूँ ? उनकी प्रीति कैसे पाऊँ ?"

"मैं जप करूँगी तो उनकी स्मृति मिल जायगी, ध्यान करूँगी तो उनका

रूप मेरे हृदयमें आ जायगा, तप करूँगी, तो उनका वैभव मिल जायेगा, त्यागसे यश मिल जायेगा, समाधिसे अखण्ड शान्ति प्राप्त हो जायेगी, ज्ञानसे एकत्व, सत्यसे उनकी सत्ता प्राप्त हो जायेगी, परन्तु प्रीति तो नहीं ही प्राप्त होगी, री। अरी बहिन ! तुम मेरा श्रृंगार करके मुझे रूपवती बना दोगी, तो उनकी कामुकता मुझे मिल जायेगी। नृत्य, गान, सुन्दर स्वभाव एवं गुणोंसे उनकी क्षणिक रुचि आकर्षित कर लूँगी, परन्तु उनका प्रेम तो कदापि नहीं मिलेगा, री। वात्सल्यसे पुत्रत्व, सख्यसे बन्धुत्व, दास्यसे स्वामित्व, प्रणयसे पत्नीत्व मिल सकता है, परन्तु प्रेम नहीं मिल सकता, री। भक्तिसे तू उनका कृपा अनुग्रह, उपासनासे उनका नैकट्य, सेवासे वे तेरे ऋणी हो जायेंगे, परन्तु प्रेम तुझे नहीं मिलेगा, री। समर्पणसे वे तेरे अभिभावक हो जायेंगे, आज्ञापालनसे संकोचहीनता, विनयसे आशीर्वाद, स्तुतिसे वरदान, शिष्यत्वसे उपदेश भले ही प्राप्त हो जाय, इन साधनोंसे तुझे उनका प्रेम नहीं प्राप्त हो सकता। मैं तो मात्र प्रीति चाहती हूँ, री। प्रीति तो कोई मूल्य देकर नहीं खरीदी जा सकती, री। प्रीति तो मात्र अपनत्वसे ही प्राप्त होती है। साधन तो परायेकी विक्रय-राशि है। उसका तो आधार ही पराया भाव है।

"अरी मंजू ! प्रीतिका तो अर्थ ही संयोग है, री। प्रथम बार जब उनसे मेरी दृष्टिका संयोग हुआ था, तब ऐसा लगा कि वे मेरे हैं। फिर जब उनकी वेणुध्वनि श्रवणगोचर हुई, तो ऐसा अनुभव हुआ मानो यह मेरे ही हृदयकी परावाणी है। फिर जब विशाखासे उनका नाम श्रवणगोचर हुआ, तो ऐसा अनुभव हुआ मानो न-जाने अनादिकालसे यह नाम मेरे रोम-रोममें झंकृत होता रहा है। फिर उनसे जब प्रथम मिलन हुआ, तो वे मेरी अस्मिताके ही स्वामी हो गये, री। आज भी वे मेरे हृदयमें एकछत्र डेरा जमाये हैं। वे मेरे नेत्रोंमें, प्राणोंमें, श्वास-प्रश्वासमें, चित्तमें, मनमें, स्मृतिमें, रोम-रोममें गुँथे, अविभक्त, एक हैं, तो वे वियुक्त कैसे हो गये, री ? अरी मंजू ! देख, मेरी आँखोंमें न-जाने क्या रोग हो गया है, वे तेरी आकृतिमें भी मुझे भरे दिख रहे हैं। अरी ! वे पलक-भर भी दूर नहीं होते, फिर सात कोस दूर मथुरा कैसे चले गये, री। अरी बहना ! पहले अक्रूरका रथ मेरे नेत्रोंमें घुसेगा, तब न उन्हें नेत्रोंकी पुतरीसे लेकर बाहर जा पावेगा ? जब वे मेरी नेत्र-पुतरियोंसे बाहर होते ही नहीं, तो अक्रूर उन्हें कैसे ले जायगा, री ?"

"मंजू ! मुझे तो यही समझमें नहीं आता कि वियोग एवं विरह बला क्या होती है? अरी मेरी श्वास-श्वास 'कृष्ण', 'कृष्ण', 'कृष्ण', 'कृष्ण' उच्चारण कर रही है। फिर उन्होंने मुझे कैसे त्याग दिया, री।"

"अरी, इतना तो तू भी देखती थी कि जिस वनखण्डमें प्रियतम गोचारण करते थे, ये पक्षी, ये भ्रमर, ये कोकिल, ये चातक, ये कपोत, ये मयूर सभी उसी वनखण्डकी ओर ही उड़ते थे। अरी, निर्जीव वायुका प्रवाह भी उधर ही बहता था जिधर वे प्राणधन क्रीड़ा करते होते। अब, यदि सचमुच ही प्राणसुन्दर मथुरा चले जाते तो ये पक्षी यहाँ मेरे पास तुझे दृष्टिगोचर होते ? कदापि नहीं। अवश्य ही समूचा वृन्दावन पक्षियोंके कलरव एवं भ्रमरोंके गुञ्जारसे शून्य हो जाता। परन्तु इन पक्षियों एवं भ्रमरोंकी उपस्थिति ही प्रमाणित कर रही है, प्रियतम यहीं हैं।"

"अरी मंजू ! तुझे अपने हृदयकी गुप्ततम अनुभूति भी कैसे बताऊँ ? वे ही मेरे नेत्रोंमें प्रकाश दे रहे हैं। वे ही मेरे कानोंमें श्रवण-शक्ति बने विराजित हैं। वे ही मेरे हृदयकी धड़कन हैं। वे ही मेरी सभी कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियोंकी संचालिका-शक्ति हैं। इससे अधिक और क्या कहूँ – वे ही मेरे हृदयकी धड़कन हैं। वे आज-भरके मेरे नहीं, जन्मान्तरोंके मेरे हैं। जन्म-जन्मके वे ही मेरे स्वामी हैं।"

"अरी मंजू ! उनका सबकुछ प्यार है। उनके नख, रोम, केश, और स्वेद भी प्रेम ही प्रेम हैं। फिर भले ही मेरे पास उनका संयोग नहीं, वियोग ही सही, राग नहीं, द्वेष ही सही; सद्व्यवहार नहीं, दुर्व्यवहार ही सही; प्रेम नहीं, त्याग ही सही; प्रीति नहीं, उपेक्षा, घृणा ही सही; सत्कार नहीं, दुत्कार ही सही; साम्मुख्य नहीं, वैमुख्य ही सही; अरी ! उनका कुछ तो मेरे पास भी है न ? अनुकूलता नहीं है, सबकुछ प्रतिकूल-ही-प्रतिकूल है, परन्तु कुछ है तो सही ! जब बहिन! उनका सबकुछ प्यार है, तो उन्होंने मुझे जो कुछ दिया, मैं अति कृतज्ञतापूर्वक उसे ही उनका सर्वस्वदान मानकर कृतकृत्यतापूर्वक स्वीकार लेती हूँ। अरी, जब कोई पहले अपना होता है, तब न शत्रुता भी करता है ? यदि कोई अपना होता ही नहीं, तो वियोग भी किसका होता, री ? आज जिसने दुत्कारा है, कल उसने सत्कारा भी था। अरी ! आज घोर रात्रि है तो कल दिन भी अवश्य ही होगा। वे मुझे प्रीतिसे नहीं, घृणासे देखें, उपेक्षासे देखें, मैं हूँ तो उनकी ही।

**राधा राधा राधा राधा**

प्रसंग - चौवालिस (४४)

# मैं उनकी थी, उनकी हूँ, उनकी ही रहूँगी।

रतनगढ़

तिथि - अज्ञात

"अरी सखि, चाहे वे कल्पों-कल्पोंमें भी कभी नहीं मिलें, मेरा कभी सुख-संवाद भी नहीं लें, मेरा नाम सुननेपर भी घृणासे मुख सिकोड़लें, उनसे मेरा कभी कोई सम्बन्ध था – इसे भी नहीं स्वीकारें, मेरी स्मृतिसे भी मुख मोड़ लें, इसके उपरान्त भी मैं उनकी ही थी, उनकी ही हूँ एवं सदा उनकी ही रहूँगी। तनकी एकता तो तनकी कामनासे ही होती है, मन एवं अहंकार स्वरूपतः ही सभीके भिन्न-भिन्न हैं। जो पृथक् हैं, विलग हैं, वे रुचि एवं कामनाओंके कारण और दूर हो जावें – सब स्वाभाविक ही तो है। किसी कालमें उन्हें राधाका तन अतिशय प्रिय था, आज रुक्मिणी, सत्यभामा अथवा कूबड़ी उन्हें प्रिय लगे, यह स्वाभाविक ही है। किसी समय उन्हें राधामें अनन्त गुण, अनुभव होते थे, राधाका मन उन्हें, बहिन ! सर्वाधिक आकृष्ट करता था, राधाके अहंको 'मेरी', 'मेरी' कहते फूले नहीं समाते थे, आज अन्य अनेकोंके सेवा-सुखसे वे पूर्णतया प्रलुब्ध हैं – सब स्वाभाविक ही है, मंजु !

"इसमें उनका दोष ही क्या है ? मैं रूपकी कंगालिनी हूँ, सभी गुणोंसे हीन हूँ । मुझमें राजमहिषी रुक्मिणीके समान शील नहीं ही होगा। कुबड़ीके समान सेवा-भाव भी कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि उसने यावज्जीवन कंसको अपनी सेवासे ही प्रसन्न किया हुआ था। मेरे पास कालिन्दीके समान तप नहीं, जाम्बवतीके तुल्य त्याग नहीं है, इन्द्रियोंका निग्रह नहीं, वैभव नहीं, कला नहीं, पवित्रता नहीं, उत्तम जाति नहीं, कुल-गौरव नहीं, कुछ भी श्रेष्ठत्व, बहन ! कहाँ है मेरे पास ? मैं तो फूहड़, महाभोगलोलुपा, सभी दुर्गुणोंकी खान हूँ। तब उन सभीसे मेरी तुलना कैसे संभव है ? अतः यह स्वाभाविक ही है कि उनके मनका रुझान उन सब गुण-शीलवती राजकन्याओंकी ओर हो जाय। इसमें उनका दोष ही क्या है ? उत्तम वस्तु सभीको आकृष्ट करती है। मैं महा-अधमा सब प्रकारसे निकृष्ट रही, अतः स्वाभाविक ही उनकी उपेक्षाकी भाजन हूँ। परन्तु, मंजू री ! वे तो परम कुलीन उत्तमोत्तम हैं ही। अतः मैं अपना मन उनसे कैसे

हटाऊँ ? मेरे मनमें तो वे ही वे बसे थे, एवं आज भी आठोंयाम वे ही बसे हैं।

"मंजू री ! मूल्यवान् वस्तुओंका तो कोई मूल्य भले ही संभव है, मेरा क्या मूल्य ? मैं तो उनकी बिना मोलकी दासी हूँ। मंजू री ! विश्वमें सभी वस्तुओंका कुछ-न-कुछ मूल्य तो होता ही है। परन्तु राधा तो बिना मोलकी उनकी दासी है। वे आज नहीं, कल नहीं, अनन्तकालमें जब भी, मात्र उसकी चाह करें, राधा उसी क्षण उनके सम्मुख जैसी भी है, उपस्थित मिलेगी ।

"मंजू री ! तू सोचती है राधा कोई तेरी सखि-स्वरूपा कलेवर है, नहीं री, राधा उनकी प्रीति है। मैं उनका हृदय ही हूँ, री। तुझसे उनका हृदय ही यह सब वार्त्ता कर रहा है, री। प्रीति तो किसीका हृदय ही होता है। इसीलिये राधा अनमोल है। मेरे प्राणवल्लभका हृदय अनमोल ही तो होगा। वह कोई हाट-घाट पर मूल्य देकर खरीदा जा सकता है ? कदापि नहीं।

इसीलिये बहिन ! राधा उनको किसी कालमें, किसी अवस्थामें, कभी भी नहीं त्याग सकती। जरासन्धने उन्हें मथुरासे वंचित कर दिया, भले ही उन्हें कोई द्वारकासे भी वंचित कर दे, परन्तु राधाके हृदयसे उन्हें कभी कोई वंचित नहीं कर सकता। मंजू री ! वृद्धावस्था यौवनसे वंचित कर देती है, रोग बलसे वंचित कर देता है, आयु समाप्त होने पर मृत्यु शरीरसे वंचित कर देती है, क्षीण पुण्य होने पर धन, यश, गुणोंसे वंचित होना संभव है, कोई इन्द्रियोंके असमर्थ होने पर भोगोंसे वंचित हो जाता है, परन्तु प्रियतमका उनकी राधासे वंचित होना असंभव है, री। राधा तो प्रियतमका अपना स्वत्व है। वह बिना हेतु उन्हें सदैव प्राप्त थी और रहेगी। वे मात्र उसे पलक उठाकर देखना भर चाह लें, वह सदा उनके पास थी, है, एवं रहेगी। वह तो उनकी सत्तामें ही समायी है।

**राधा राधा राधा राधा**

प्रसंग - पैंतालीस (४५)

# प्रेम-रहस्य

रतनगढ़
तिथि - अज्ञात

मंजू री ! तू समझती है कि प्रियतम मथुरासे आये ही नहीं, परन्तु मैं तुझे सत्य कहती हूँ, मेरी स्मृतिको सफल करने वे नित्य ही मेरे सम्मुख आते हैं। और मेरे इस कथनको तो तू मान ही नहीं सकेगी कि वे मेरे पास मात्र आते ही नहीं, मुझे छोड़कर एक पल हटते भी नहीं। मंजू ! यह मेरी महिमा नहीं, उनकी ही प्रीतिकी स्तुति है। अन्धी आँखोंसे भले ही उन्हें कोई देख नहीं पावे, यह बात दूसरी है, परन्तु सत्य बात यही है कि इस वृन्दावनके एक तिनकेको भी वे क्षण भरके लिये छोड़कर एक पैर भी इधर-उधर नहीं हो सकते। तू देख नहीं पा रही, यह तेरी असमर्थता है परन्तु मैं स्पष्टतया देख रही हूँ कि इस समय भी वे मुझपर अपनी अनन्त प्रीति न्यौछावर कर रहे हैं।

मंजू ! तू हँस रही है। समझ रही है राधा बहिन पागल हो गयी है। वे द्वारकाकी पटरानियोंके प्रेम-पाशमें बँधे हैं और मैं उन्हें अपने प्रति न्यौछावर मान रही हूँ। परन्तु तू भले ही हँस ले। सत्य तो मेरी ही बात है, थी, एवं सदा रहेगी। सत्य सर्वकालमें एकरस सत्य ही रहता है। मंजू ! अच्छा तू बता ! यह सूर्य वृन्दावनमें चमक रहा है, न ? फिर यही सूर्य द्वारकाकी पटरानियोंके महलोंको कैसे प्रकाशित कर रहा है ? इसी क्षण एक साथ जैसे सूर्य वृन्दावन, मथुरा, द्वारका, हस्तिनापुर सभी स्थानोंमें एक समान प्रकाश दे रहा है, इसी प्रकार मेरे प्रियतम भी प्रीति विभु हैं। मंजु ! सूर्य भी इतना विभु नहीं, जितनी मेरे प्रियतमकी प्रीति-विभु है। और उनकी प्रीति चाहे वे द्वारका, मथुरा, हस्तिनापुर कहीं भी रहें, मेरे सम्मुख उन्हें प्रकट कर ही देती है। मंजू ! क्या तू उन्हें नहीं देख पा रही ? कोई बात नहीं। मेरी ही आँखों से उन्हें देख ले, देख ! वे उस कदम्बके नीचे खड़े मुसका रहे हैं । क्या तू उनका वेणु-वादन नहीं सुन रही ? इसमें चिन्ता कैसी ? बहिन, मेरी श्रवणेन्द्रियोंको अपना ले। जब तू राधाकी बहिन है तो राधाके नेत्र, श्रवणेन्द्रियाँ भी तो तेरी ही हैं। मैं इन्हें तुझे सौंप दे रही हूँ। सदा-सदाके लिये इन्हें तुझे दे दूँगी । अरी ! तू रोती है ? क्या

राधा आँख-कानके बिना अंधी-बहरी हो जायगी ? क्या तुझे यह भय है ? नहीं बहिन ! राधा तो सदा प्रियतमके हृदयमें ही निवास करती है, वह तो उनकी ही आँखोंसे देखती है, उनके ही कानोंसे सुनती है।

बहिन ! देख न ! उस अश्वत्थकी आलवाल पर सुखासीन हुए वे 'राधा-राधा' उच्चारण करते वेणुवादन कर रहे हैं ।

अच्छा बहिन ! बोल, तू प्रभातमें ही तो आज मुझे सुना रही थी कि वे तेरे स्वप्नमें तेरी गगरी यमुनामें गिराकर हँस रहे थे, तो बता री ! द्वारकासे वे तेरे पास स्वप्नमें कैसे आ गये री ? अरी बहिन ! द्वारकासे वे तेरे स्वप्नमें आ सकते हैं, तो उन्हें तेरे जागरणमें आनेसे भला कौन रोक रहा है ? और जब तेरे स्वप्नमें तेरी गगरी ढुलकानेसे रुक्मिणीके बाहु-पाश उन्हें विवर्जित नहीं कर सके, तो जाग्रतमें राधाको कदम्बके नीचे इसी समय वे क्यों नहीं दर्शन दे सकते ?

क्या कहती है ? स्वप्नमें तो स्मृति आकार ग्रहण कर लेती है ? ठीक है, तब जाग्रतमें स्मृतिको आकार ग्रहण करनेमें क्या किसीने प्रतिबन्धित किया है? स्मृति ही तो उनकी प्रीति है । प्रीतिके बिना भला क्या कोई किसीकी स्मृति कर सकता है ? प्रियतम मुझे असीम प्यार करते हैं, अतः मेरी स्मृतिमें वे भरे रहते हैं। और वे अपनी स्मृतिको पूर्णत्व देने मेरे नेत्रोंमें नित्य साकार हुए नाचते रहते हैं। वे मेरे कानोंमें वेणुनादका अमृत नाद भरते रहते हैं।

अंरी बहिन ! सर्वप्रथम जैसे ही मैंने उन्हें देखा, उन्हें स्पर्श किया, तो मुझे ठीक अनुभव हुआ कि वे मेरे मूर्त्तिमान् सौन्दर्य-भाव हैं। उनके मुखमें न हड्डियोंका ढाँचा था, न त्वचा, न मांस, न रक्त। अरी बहिन ! वे मात्र सौन्दर्य थे। सुन्दरता ही घनीभूत होकर मानों श्यामाकृतिमें ढली मेरे सम्मुख थी। मैंने उन्हें स्पर्श किया। विलक्षण ! सुकोमलता ही सुकोमलता घनीभूत हुई, मुझे उनके संस्पर्शमें अनुभूत हो रही थी।

अरी बहिन ! मैंने उन्हें सूँघा । महदाश्चर्य !! उनके सभी अंग-अवयव मात्र घनीभूत सर्वोत्तम सुगन्ध थे। फिर बहन ! मैंने उन्हें आलिंगित किया। बहिन! सर्वांगोंसे मात्र वे मेरे प्रीति भाव ही थे। तो क्या वे नन्दनन्दन, यशोदोत्संग लालित नहीं हैं ? निश्चय ही हैं। परन्तु वे कोई हड्डी-मांस से बनी शरीराकृति सर्वथा नहीं हैं । वे अस्तित्वतः, सत्तातः घनीभूत प्रीतिपुञ्ज हैं। अरी बहिन ! भाव का निवास द्वारका, मथुरा, गोकुल एवं वृन्दावन नहीं हो सकता । भाव तो हृदयमें ही अखण्ड निवास करता है। जब अपना हृदय ही प्रेम शून्य हो, तभी न उनका वियोग होगा ? बहिन मंजू ! यही तो परम आश्चर्यका विषय है । सब व्रज समझता है कि वे राधाको विरहिनी, दुखिया बनाकर मथुरा चले गये।

परन्तु सत्य यही है कि उनकी प्रीति उन्हें मैं गोष्ठमें होऊँ तो गोष्ठमें, कुंजमें होऊँ तो कुंजमें, यमुना किनारे होऊँ तो यमुना किनारे लाकर मेरे सम्मुख कर देती है। मैं उनसे पूछ बैठती हूँ – "प्रियतम! तुम तो चाचा अक्रूरके रथमें गये थे, फिर लौटकर कैसे आये ?" तो वे कहते हैं – "वल्लभे ! गया तो अश्वोंके रथसे था, आया हूँ प्रीतिके पंखोंसे उड़कर।" मंजू बहन ! मैं हँसने लगती हूँ " वे जलमें, स्थलमें, आकाशमें, मेरे प्राणोंमें, सखियोंकी आकृतिमें, तुझमें, सम्पूर्ण वृन्दावनमें, यहाँ तक कि मेरे रोम-रोममें मुझे भरे दिखते हैं ।

बहिन ! वे मेरा प्रेम हैं। पहले उनकी स्मृति होती है। स्मृति प्रगाढ़तर होती जाती है। स्मृति प्रीतिको उद्दीप्त कर देती है। और उद्दीपित प्रीति उन्हें मेरे आलिंगनमें बाँध देती है।

यही मेरा उनका प्रेम रहस्य है ।

**राधा राधा राधा राधा**

## प्रसंग - छियालीस (४६)

# मैं तो प्रीति-पिपासिनी कृष्णा चातकी हूँ

**रतनगढ़**
**तिथि - अज्ञात**

मंजू री ! कूबरी आज कृष्ण-महिषी है और राधा कृष्ण-विरहिनी । निश्चय ही मैं कुरूपा हूँ, गुणहीना हूँ, शीलहीना, कुटिला एवं कलङ्किनी हूँ। परन्तु उनकी प्रीतिसे तो मुझे उन्होंने आज भी वंचित नहीं ही किया है। वे मेरे पास न सही, वे मुझे त्यागकर चले गये, परन्तु मैं अभागिन उनकी प्रीतिसे तो पूरी सुहागिन हूँ ही। मंजू बहिन ! यदि उनकी प्रीति मुझे त्याग देती तो मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती थी।

मंजू ! वृषभानु-दुहिताका सब भोग ऐश्वर्य, उसके प्रति दासियों और प्रजाका वह प्रेम, कुंज, वन, नद, नदी, गिरि-काननोंका सब सौन्दर्य, मोर, हंस, शुक-सारिकाओंका वह केलिकलरव, सब स्वप्न-विलास था। उनके साथ था, उनकी वस्तु थी, सब उनकी रुचिके लिये था, उनके साथ चला गया। परन्तु उनका प्रेम मेरा था, वह कभी मुझे छोड़कर कहीं नहीं जा सकता। उनका देह-सुख-संयोगका भोग किसी दिन वे मुझे दे रहे थे, अब चाहे कूबरी को दें अथवा द्वारका-महिषियोंको प्रदान करें। मंजू ! तू तो मेरी साक्षी है, मैं तो तब भी इस सबसे निरपेक्ष थी। उनको सुख होता था अतः उनके सुखके लिये जो भी रस-विलास वे देते, भोगती थी, अब उनके सुख और रुचिके लिये उसे त्याग दे रही हूँ। न तब मेरी भोगासक्ति थी, न अब कोई त्यागाग्रह है। मैं उनका रूप देखती थी, किन्तु मात्र इसीलिये कि मुझे अपना स्वरूप-दर्शन कराके वे सुख अनुभव करते थे। मैं उनकी वेणुमाधुरी सुनती थी, क्योंकि मुझे सुनाने के लिये ही वे वेणु बजाते हुए सुख-समुद्रमें डूब जाते थे। क्या उस समय मेरे मनमें उनको भोगनेकी कामना थी ? मंजू ! कदापि नहीं। उस समय यदि भोक्तृत्वका किंचित् लेश भी मुझमें होता तो आज भोगोंका अभाव मेरी उनके प्रति प्रीतिको खा जाता। परन्तु उस समय वे ही राधाके भोक्ता थे और आज भी वे ही ज्यों-के-त्यों राधाके भोक्ता हैं। उस समय वे संयोग दान देकर राधाको भोग रहे थे और आज वे ही वियोग दान देकर राधासे रमण कर रहे हैं। मैं तो

दाताकी रुचिपर उस समय भी न्यौछावर थी और आज भी दाताकी ही रुचि पर न्यौछावर हूँ।

मंजू ! ये यमुनाके घाट साक्षी हैं, संयोगमें भोग होता है और वियोगमें प्रेम। उनके अनन्त मिलनदानसे मैं कभी तृप्त नहीं हुई। नयनोंमें उनका रूप प्रतिदिन ही भरती थी परन्तु वह रूप सदा मुझसे पृथक्, बाह्य ही रह जाता था। हाँ ! उस रात जब वे मुझसे मथुरा जाने की अनुमति लेने आये थे, मैंने मंजू, उनका रूप बाहरसे भीतर उतार लिया था। बस, जब उनका आगमन गमनमें परिवर्तित हुआ, मैंने भीतरवालेको बाहर कर लिया। अक्रूर अवश्य बाहरवालेको रथपर बैठाकर मथुरा ले गया। परन्तु जो मेरे भीतर बस गया था, वह तो ज्यों-का-त्यों अछूता मेरे पास है ही। वह तो जाता भी कहाँ ?

देख री, वे मेरे हृदयके भीतर बैठे हैं। वे हँस रहे हैं। उनकी मुसकान, उनकी आनन्द बिखेरती चितवन मेरे हृदयमें सुखका निर्झर बनी फूट रही है। वे मेरे हैं; मेरे हृदयमें उनका नित्य निर्बाध निवास है। मेरे हृदयमें विरहकी अग्नि यदि धू-धूकर जलती है, तो वे क्या उस तापसे सर्वथा अछूते रह पावेंगे? इसीलिये मंजू ! वे मथुरा जावें, द्वारका जावें, मैं सदा सुखी रहती हूँ। मेरा दुःख जब उन्हें निश्चय ही दुःख-पीड़ित कर ही देगा, तो मेरा विरह-विकल होना, क्या उचित होगा ? अरी पगली ! प्रेम तो एकताका ही पर्याय है। एकात्मता ही यदि उनसे मेरी नहीं हो पायी, तो प्रेम है ही कहाँ ? और यदि मेरी उनसे प्रगाढ़ एकात्मता है, तो उनका सुख ही तो मेरा सुख है । मेरे दुःखकी ज्वालासे वे झुलस जावें, मेरी तीव्र विरहाग्नि उनको विकल कर दे, उनको मनोनुकूल सुखसे वंचितकर यहाँ मेरे निकट ले आवे, तब तो मैं घोर कामुकी हो उठूँगी, प्रीति तो मेरे आर्श्व-पार्श्वमें ही कहीं नहीं होगी । मंजू ! मैं कामुकी, कृष्ण-सुख-भोग-लोलुपा नहीं, मात्र कृष्ण-प्रीति-पिपासिनी कृष्ण-चातकी हूँ।

मंजू बहिन ! मैं तो उनकी सब प्रकारसे दासी हूँ। मेरे नेत्र उनके रूपके दास हैं, मेरी श्रवणेन्द्रियाँ उनकी वेणु-माधुरीकी दासियाँ हैं। मेरी त्वचा उनके स्पर्शकी दासी है, मेरी रसना उनके अधरामृतकी और मेरी नासिका उनके गन्धकी नित्य दासी है। मेरा मन उनके मनका, बुद्धि उनके निर्णयकी और मेरी अस्मिता उनके अहंकारकी नित्य दासी है। मुझे तो वे मेरे स्वामी ही दिखते रहें। मैं उनके हाथकी यंत्र हूँ और वे यंत्री। मैं तो उनके कण्ठकी माला हूँ। वे पहनें, न पहनें, किसी कोनेमें रख दें, मैं उनकी नासिकाको सुगन्ध देती रहूँगी। वे मुझे धरापर गिरादें, मैं उनकी चरणधूलिको मस्तकपर सराहूँगी । वे पैरोंसे कुचल दें, मेरा सौरभ उनके हाथों-पैरोंमें लगकर धन्य हो जायेगा। मेरी स्वतंत्र सत्ता ही क्या है ?

मैं तो उनके ही लिये थी, उनमें विलीन हो जाना ही तो मेरा सौभाग्य है।

अरी बहिन ! कोई अपने उपकरणसे द्वेष करता है ? बच्चा अपने क्रीड़ा-कन्दुकको कितना प्यार करता है ? वे उसके खिलौने ही उसका सब धन होता है। जब वे अपनी बाँसुरी एवं लकुटीको ही बिसार दिये और छोड़कर चले गये, तो राधाको भी बिसार दिये हैं।

मंजू ! लोग समझते हैं कि मात्र नदियाँ ही समुद्रको प्रेम करती हैं, उसके लिये दौड़ रही हैं । लोग समुद्रको निष्ठुर, लापरवाह, कहकर धिक्कारते हैं। परन्तु बहिन ! यह पूरा भ्रम ही तो है । नदियोंका जल तो समुद्रके प्रेम स्वभावसे ही है। नदियोंका उफान, मात्र किनारे आप्यायित करता है, किनारे के दो चार गाँव ही उसकी बाढ़से सिक्त होते हैं, परन्तु समुद्र जब उफनता है तो मेघों की लोरें सम्पूर्ण व्योम को ही घेर लेती है, ऊँचे-ऊँचे, गर्वसे मस्तक उठाये पहाड़ोंका अणु-अणु समुद्रकी प्रीतिवर्षासे पूरा सिक्त हो जाता है और तब समुद्र निर्झर बनकर फूट पड़ता है। नदियाँ तो रिक्त हैं, समुद्र ही अपना प्रीति जल भरकर उन्हें प्रवाह देता है और समुद्रका प्रेम ही 'नदी' नाम हो जाता है उसकी वह समवेत प्रीति ही नदी बनकर समुद्रसे मिलने दौड़ पड़ती है ।

इसी प्रकार मंजू, लोग समझते हैं, मछलियाँ ही जलसे प्रेम करती हैं। क्या जल मछलियोंसे हीन रह पाता है ? एक छोटा-सा पोखरा भी तुम्हें किसी मछलीके बिना नहीं मिल सकता । जैसे मछली जलके बिना प्राण त्याग देती है, जलमें भी उसकी सत्ता रहनेतक मछली अवश्य रहेगी ।

बहिन मंजू ! प्रियतमका प्रेम ही तो राधामें 'राधा' बना है। प्रियतमने अपना प्यार भरकर एक गँवार ग्वालिनीको राधा बना दिया ! उन्होंने इस कुरूपा ग्वालिनीमें अपना इतना अधिक प्रेम उँडेला, उसके रोम-रोम में प्रियतम-ही-प्रियतम भर गये।

मंजू री ! जैसे बूँद जब जलकी होती है, तो उस बूँदमें जल-ही-जल होता है। कण यदि पृथ्वी का है, तो उस कणमें पृथ्वी-ही-पृथ्वी है, अन्य कुछ नहीं। किरण यदि प्रकाश की है तो उस किरणमें प्रकाशके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। एक लघु टुकड़ा भी यदि स्वर्णका है, तो उसमें स्वर्ण-ही-स्वर्ण है, अन्य कुछ भी संभव ही नहीं। इसी प्रकार यदि राधा कृष्णकी है, तो उसमें सबकुछ कृष्ण-ही-कृष्ण हैं, कृष्णसे हीन राधा कहीं कुछ भी हो ही नहीं सकती। राधासे श्रीकृष्णको हटाया, दुराया, मिटाया जा सकता ही नहीं।

प्रियतम मेरे हैं, एकमात्र एकान्तिक मेरे हैं।

राधा राधा राधा राधा

श्रीपोद्दारमहाराज

पता नहीं कुछ रात-दिवसका, पता नहीं कब संध्या-भोर

प्रसंग - सैंतालीस (४७)

# इन भावनाओंको लिपिबद्ध मत कर

भाईजी ! आज पूजामें बैठा था। अचानक श्रीकृष्ण व्यक्त हो गये। कहने लगे – "इन भावनाओंको लिपिबद्ध मत कर। तेरा भाईजीको सब लिखना और उन्हें अपनी मनःस्थिति अवगत करा देना अबतक उचित ही था, परन्तु ये पत्र किसी अनधिकारीके पास जा सकते हैं। अबतक की तेरी अनुभूतियाँ जगत्में प्रेम-साधना करनेवालोंके लिये अनमोल ही होंगी। परन्तु, आगे जो भी तुझे लीलादर्शन होंगे, वे इतने गोपनीय एवं प्रेम-रहस्योंसे भरे होंगे कि उनकी किसी भी अपात्रको गन्ध भी नहीं लगनी चाहिये। अतः आजसे इनका लिखना ही स्थगित कर दे। आपके पाससे ये मेरे पत्र किसी अपात्रके पास जावें, इसकी संभावना तो सर्वथा ही नहीं है, परन्तु फिर भी न-जाने क्यों उनकी इन्हें लिखनेमें अतिशय अरुचि है। अतः यह सब लिखना स्थगित कर रहा हूँ। वैसे आप और मेरे आराध्य श्रीकृष्ण कोई पृथक् सत्ता तो है ही नहीं। आज आपने सत्संगमें भी ऐसा ही संकेत किया था कि प्रेम-भावना गुरुके सम्मुख भी प्रकट नहीं करनी चाहिये। क्योंकि यदि गुरु सर्वज्ञ हैं, तो वह अन्तर्-हृदयकी सब बातें जानता ही है, और यदि वह सर्वज्ञ नहीं है, तो शब्द हृदयकी विशुद्ध प्रीतिका सही चित्र रख ही नहीं सकते। शब्दोंसे यथार्थ विशुद्ध प्रीति-भावना किसीको भी बतलायी नहीं जा सकती। अतः उसे मन-ही-मनमें परम गोपनीय रूपमें स्वयं ही आस्वादन करता रहे। गुरु परम अधिकारी शिष्यको भी यह प्रेमरस की भावना कहकर नहीं प्रदान करे। क्योंकि अधिकारी शिष्य तो गुरुके चिन्तन-मात्रका संग्रहण कर लेता है, और अनधिकारी शिष्य इसको निश्चय प्रच्छिन्न काम-भावना ही मानेगा। अतः ये सभी भावनायें परम गोपनीय ही रहनी परमावश्यक है। ये कथा कहानी एवं साहित्य नहीं है। ये तो गूँगेका गुड़-स्वाद है। ये सुनने-पढ़नेकी वस्तु ही नहीं है। इनमें कोई भाग्यवान् ही डुबकी लगाता है।

आपके सत्संगको सुनकर पूजामें बैठा, तो बार-बार श्रीकृष्ण वही अनुशासन कर रहे थे। भाईजी ! मैं देख रही हूँ और वे विलक्षण-विलक्षण लीला दिखला रहे हैं। जब सेवाके समय मानसिक-जगत्में अपनेको जो भी अनुभव करता हूँ, जिस गोपी-देहकी मुझे अनुभूति अपने रूपमें होती है, उस देहका अनुभव भी तो मेरा मन ही तो कर रहा है। और मन श्रीकृष्ण स्वयं है। इसलिये ऐसा तथ्य अनुभवमें आता है कि इस देहके छूटते ही, मैं अपने उस मानसिक-देहमें प्रविष्ट

हो जाऊँगी और श्रीकृष्णमयी हुई श्रीकृष्णमयी लीलाओंमें अनन्त कालके लिये सम्मिलित हो जाऊँगी, यही मेरी चरम एवं परम गति होगी।

भाईजी ! इतने अधिक भावोंकी तरंगें उठ रही हैं कि क्या कहूँ ? कभी वियोग-ही-वियोगके दृश्य आते हैं, कभी मानससंयोग-ही-संयोगमें डूबा रहता हूँ। ऐसा नहीं कि क्रमशः संयोग एवं तब वियोग हो। बस, संयोगके मध्य ही वियोगका दृश्य हो आता है और वियोगके मध्य ही संयोग प्रकट हो जाता है। संयोगके समय ऐसा अनुभव होता है कि उनसे वियोग तो असंभव है, किन्तु दूसरे ही क्षण वियोगमें ऐसी अथाह ज्वाला उठती है कि लगता है उनसे कभी संयोग हुआ ही नहीं। भाईजी ! इतनी ही लीला नहीं है, इससे भी परे अनन्त आस्वादन हैं, अनन्त लीलायें हैं, परन्तु क्या हैं, पता नहीं। वे अनन्त लीलामय हैं। उनकी लीलाके एक कणने ही सचमुच निहाल कर दिया है। भाईजी ! मैं तो श्रीकृष्णकी प्रिय-से-प्रिय वस्तु हूँ। भाईजी ! मुझे जो राधारानी दिखती हैं, वे तो सरलताकी चरम सीमा हैं। उनमें सर्वज्ञता आदि गुण सर्वथा नहीं हैं।

भाईजी ! जब कभी सोचता हूँ — आप सर्वज्ञ हैं, सर्वसमर्थ हैं, मेरे आत्मीय-से-आत्मीय हैं, आपको वे (श्रीकृष्ण) अतिशय प्यार करते हैं, इस नाते ही मैं श्रीकृष्णकी प्यारी हूँ, या आप स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं, अथवा मेरी प्रोणापम सखी राधारानी हैं — बस, आनन्दमें भर जाता हूँ, आनन्दकी बाढ़ आ जाती है। आपके चरणोंमें मानसिक रूपसे लोटने लगता हूँ। आपके द्वारा लिखे 'गोपीभावकी साधना' शीर्षक लेखमें आपने जो भी लिखा है, वह सर्वस्व-अर्पणका उच्चतम चित्रण है। कभी-कभी लगता है, ऐसा मानसिक जगत्में तो मेरा भाव है, परन्तु यह मेरे देहमें भी भीतरी स्वभाव बन जाता, तो निहाल हो जाता। **'आमि कृष्णपद दासी'** महाप्रभुकी यह व्याख्या एवं आपके गोपी-भाव लेखके कुछ अंश प्रेमभावके इतने उच्चतम चित्रण हैं कि त्यागपूर्ण समर्पणकी भावनामें तन्मय हो जाता हूँ। ये सभी मेरे भाव सुनकर आप दया करेंगे, प्रेम करेंगे या पागल कहकर घृणा करेंगे, कुछ अनुमान नहीं। एकाकी प्रवाहमें बह रहा हूँ। लिखते-लिखते कुछ-का-कुछ लिखा चला जाता है। क्रियामें स्त्रीलिंग, कभी पुलिंग जैसा मनमें आया, करता गया हूँ। सम्बोधनोंमें 'भाईजीके' स्थानपर कभी 'बहन' ! भी सम्बोधित हो गया है। मनमें आया, मैं रानीकी सेविका मंजुलीला हूँ, अतः 'मंजु री !' ऐसा सम्बोधन रानीद्वारा हुआ है। मेरे हृदयकी ओर देखते हुए कोई घृणाके योग्य बात हो, तो क्षमा कर दीजियेगा। मनकी यही दशा है। क्या होगा, पता नहीं । इतना लिखकर समाप्त कर रहा हूँ।

राधा राधा राधा राधा

# महाभाव-दिनमणि

# श्रीराधाबाबा

## द्वितीय-खण्ड

(वार्त्तायें, प्रवचन-उपदेश, पत्राचार, लेख)

## अध्याय आठवाँ

## (भक्त-महिमा)

(श्री शिवकुमारजी केड़ियाको लिखे पत्र)

१. श्री शिवकुमारजी केड़ियाका संक्षिप्त वंश एवं जीवन-परिचय
२. श्रीभाईजी हनुमानप्रसादजी पोद्दारका सर्व-देहमय स्वरूप
३. भाईजी और श्रीकृष्ण
४. भाईजीकी दृष्टिमें आते ही सभी कृष्ण हो जाते हैं
५. वृद्धा गृह-सेविकाको विलक्षण बुद्धियोगका दान
६. कुत्तेकी योनिसे भगवल्लीला-लोकमें
७. सच्चे सन्त कभी निराश नहीं करते
८. कर्मकाण्डी ब्राह्मण पर अनचाही कृपा
९. युवक डाक्टर पर कृपा
१०. नगर सेठ पर कृपा

# सार-संक्षेप

*''स्वामीजी ! मुझे 'मैं शरीर हूँ' यह प्रायः बोध नहीं रहता। जैसे हम पूर्वजन्मके शरीरोंको सर्वथा भूल जाते हैं, वैसे ही, इस शरीरको भी अधिकांशतः भूला रहता हूँ। कभी इस देहके स्थानपर श्रीकृष्ण, कभी श्रीराधारानी, कभी कोई गोपी, कभी राम, कभी शिव, कभी भगवान् नारायण, मेरा सब यथायोग्य व्यवहार कर जाते हैं। आपसे इस समय कोई प्रापञ्चिक अहंकार सर्वथा वार्त्ता नहीं कर रहा है। जैसे किसी परम विशुद्ध चित्सत्ताकी किसी गहरे कूपसे प्रतिध्वनि गूँज रही हो, इस शरीरसे परमोच्च चित्सत्ता ही क्रियाशील हो रही है। कभी-कभी यह शरीर दिखता है, परन्तु उस कालमें - कोई विश्वास नहीं करेगा कि त्रिगुणात्मक पंचभूत, चिन्मय होने कैसे संभव हैं, परन्तु भगवान्की अन्यथाकुर्तुम्- सामर्थ्य कहें, यह शरीर भी पूर्ण सन्धिनी-शक्तिकी परिणति - चिन्मयरूप ही अनुभव होता है। यदि वह त्रिगुणात्मक प्राकृत शरीर भी रहता हो, तो इसके भीतरसे प्रतिध्वनि की तरह कभी कोई बोल जाता है, किसी वस्त्रकी तरह इसे कभी कोई पहन लेता है, इसमें परमोच्च आध्यात्मिक शक्तियाँ विचित्र-विचित्र प्रकारकी लीला करती रहती हैं।''*

x x x x x x x x

*भला बताओ, इस निर्दोष, अकारण हितू भक्तकी झूठी निन्दा करनेवालेको मैं कैसे क्षमा कर सकता हूँ ? फिर तो मेरे शरणागत भक्त मुझ सर्व-रक्षा-समर्थके रहते अरक्षित हो जायेंगे। यह तो धनाभिमानी एक नरक-कीट, तुच्छ, जीव था, भक्तराज पोद्दारका यदि मेरी अर्द्धांगिनी लक्ष्मी भी तिरस्कार करे, तो मैं उस विनाशरहित लक्ष्मीका भी त्याग कर दूँ।*

x x x x x x x x

*भाईजी की दृष्टि इतनी पवित्र एवं सम है कि उन्हें तो चाहे कोई नारकीय कीड़ा हो, कोई अति सूक्ष्मदर्शी तत्वज्ञ सन्त हो, सभी समान भगवद्रूप ही दृष्टिगोचर होते हैं। भाईजी सब जीवोंको गुण-निरपेक्ष, ज्ञान-निरपेक्ष और भक्ति-निरपेक्ष प्रेम करते हैं। उन्हें किसीसे कुछ आशा तो है नहीं, उन्हें तो सबको भगवद्भाव वितरित करना है, सो वे उसे सर्वत्र सभीमें वितरित करने – जहाँ भी ममत्व देखते हैं, पहुँचते ही हैं।*

।। श्रीराधा।।

प्रसंग - एक

# भक्त-महिमा

*प्रस्तुति :*

## परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*प्रेषिति :*

## श्रीशिवकुमारजी केडिया

*स्थान :*
रतनगढ़, (बीकानेर राज्य)
दिनांक : १३-२-४१ ई.

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीशिवकुमारजी केड़ियाकी
कापीसे प्रतिलिपि

## आलोक

### (श्रीशिवकुमारजी केड़ियाका संक्षिप्त वंश एवं जीवन-परिचय)

वैश्योंमें अतिशय साहसी, धर्मनिष्ठ, उद्योगशील, नीति-निपुण, प्रतापी, ऋजु-प्रकृतिके अग्रवाल होते हैं। 'अग्रेभवा' अग्रवाल-यह किंवदन्ती सर्वत्र प्रचलित है। 'अग्रे' का अर्थ है, जो आचरणोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, वे 'अग्रवाल' कहलाते हैं। पुरातनकालमें जो वैश्य, तपस्यारत अग्निहोत्री ब्राह्मणोंकी समिधाके लिये अगरु-काष्ठका संचय करते थे – वे अगरुवाल या अग्रवाल कहलाये। त्रेताके प्रथम चरणमें महाराजा अग्रसेन इसी जातिके हुए हैं। ये परम ब्राह्मण-भक्त धर्मनिष्ठ राजा थे और भारतके पश्चिमोत्तर राज्योंसे लेकर समुद्र-तटपर्यन्त सम्पूर्ण भारतभूमिपर इनका एकछत्र राज्य था। इनकी राजधानी अग्रवन (आगरा) में थी। अग्रवाल जाति इनकी ही सन्तान हैं। इन महाराजा अग्रसेनने अठारह विवाह किये, परन्तु किसी भी रानीसे उनके कोई सन्तान नहीं हुई। राजाको निस्संतान जानकर सभी महर्षिगण एकत्रित होकर विचार करने लगे। महात्मा गर्गाचार्य एवं सभी ऋषियोंने मिलकर महाराजा अग्रसेनसे उनकी प्रत्येक धर्मपत्नीके सहित पृथक-पृथक् अठारह पुत्रेष्टि यज्ञ कराये। राजाके इन यज्ञोंके फलस्वरूप प्रत्येक पत्नीसे एक-एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इन अठारह पुत्रोंके नाम अठारह ऋषियोंके ऊपर रखे गये। अग्रवालोंके गौत्रोंमें सर्वप्रथम महर्षि गर्गाचार्यके

नामका 'गर्ग' गोत्र आता है। केडिया जाति इस गर्ग-गोत्रके अन्तर्गत ही है। केडिया जातिकी प्रशस्तिमें राजस्थानके भाटों-चारणोंका यह दोहा बहुत ही प्रसिद्ध है –

**करतब बाँका केड़िया, धर्म घणा पोद्दार ।**
**गोत अठारह मध्यमें, धड़ाबन्द दातार ।।**

केडिया जातिके आदि पुरुष पाहूरामजी अग्रवाल थे। सं. १५१५ वि. वैशाख शुक्ला द्वादशीके दिन इन्होंने एक चमत्कारी भूखण्डमें कैर (करील) की टहनीका रोपण करके 'केड' नामक नगर बसाया था। श्रीपाहूरामजी इस केड नगरके चौधरी (मुख्य व्यवस्थापक) रहे। केड नगरके निवासी होनेसे, श्रीपाहूरामजी अग्रवालके वंशज केडिया कहलाये। बादमें इनके वंशजोंको बिसाऊमें, तत्कालीन राजाने अनेक विशेषाधिकार देकर बसा लिया। इस वंशके लोगोंकी ईमानदारी, धर्मनिष्ठा, भगवत्परायणता, व्यापार-कौशल देखकर बीकानेर महाराजा सरदारसिंहजी बहुत ही प्रभावित हुए और उन्होंने इनके वंशज श्रीनन्दरामजीको बिसाऊसे अपने राज्यमें बसानेकी इच्छा प्रकट की। श्रीनन्दरामजी ऊँटोंके काफिलोंपर पशमीना, सूखे मेवा, हींग आदि माल लाकर पाली-मारवाड़ आदि शहरोंमें बेचा करते थे। ये सभी सामान ये अमृतसर, लाहौर आदि नगरोंसे खरीदा करते थे। उन दिनों ठगों और डाकुओंका बहुत जोर था। परन्तु ये इतने शूरवीर एवं प्रभावशाली थे कि इनका माल कभी लूटा नहीं जाता था। रेलों और ऊँटों द्वारा आने-जानेवाले मालका ये बीमा लेनेका काम भी करते थे। इनके बीमेका माल सुरक्षित ही पहुँचता था।

धर्म इनका प्रथम पुरुषार्थ था। ये विष्णुसहस्रनामके इक्कीस पाठ किये बिना कभी अन्न ग्रहण नहीं करते थे। इनका बम्बई, जयपुर, अमृतसर, काश्मीर, पटना, कलकत्ता, दक्षिण हैदराबाद आदि अनेक स्थानोंमें व्यापार था। फीरोजपुरमें नूरपुर आदि पाँच गाँवोंकी बहुत बड़ी जमींदारी इन्होंने खरीद रखी थी।

बीकानेर-नरेश श्री सरदारसिंहजीके आग्रहपर इन्होंने बिसाऊ छोड़कर श्रीमहाराजाके पिता रतनसिंहजीके नामपर रतननगर बसाया। इन्होंने नगरके चारों और पक्का प्राचीर ओर लक्ष्मीनारायणजीका सुन्दर मन्दिर बनवाया। यह रतननगर चूरू एवं रामगढ़के मध्य महनसरसे तीन कोसकी दूरीपर है।

श्रीनन्दरामजीके पुत्र श्रीअर्जुनदासजी केडिया थे। ये संस्कृत एवं हिन्दी भाषाके पण्डित, कवि एवं सिद्ध शिवभक्त थे। श्रीअर्जुनदासजी अपने मरणावसरके सम्बन्धमें भगवान् शंकरसे सदा यह याचना किया करते थे –

**'अन्तसमय करुणानिधि मेरे । ये सब सुलभ होहिं प्रभु प्रेरे ।।**

**कासी भूमि भगीरथि कूला । कुसा सयन मुद मंगल मूला ।।**
**तुलसीवन वर विप्रन आसी । दरसन सिव स्वरूप सन्यासी ।।**
**गल रुद्राक्ष बिबुधसरि बारी । भाल भसम तन निंज सम कारी ।।**
**शिव शंकर हर पशुपति नामा । जपै जीह अविरत अविरामा ।।**
**छवि कमनीय कथित कर ध्याना । अविचल चित चलितेहु प्रियप्राना ।।**

भगवत्कृपासे आपकी यह अभिलाषा सोलहों आने पूर्ण हुई। यहाँ तक कि "दरसन सिव स्वरूप सन्यासी" भी हुआ। एक योगिराज सन्यासी स्वतः इनकी मृत्युकालमें वहाँ उपस्थित हुए और दरसन देकर कुछ समयके उपरान्त चले गये। मार्गशीर्ष कृष्णा १४ सं. १९८७ को आपको ज्वरातिसार हुआ। धीरे-धीरे उसका प्रकोप बढ़ता गया। बारह दिवस रुग्ण रहनेके उपरान्त मार्गशीर्ष शुक्ला ११ के दिन, सोमवारको प्रातःकाल आपका कैलास-वास हुआ।

आपने चैत्र शुक्ला द्वादशी संवत् १९८२ वि. को काशीवास प्रारंभ कर दिया था और फिर मृत्युपर्यन्त स्थायीरूपसे काशी ही रहे। ये भूमिशयन करते और अपना सम्पूर्ण समय सरस्वतीकी सेवाके अतिरिक्त शिवाराधनामें ही लगाते थे।

आश्विन सं. १९७७ वि. में बीकानेर में तत्कालीन महाराजा श्रीगंगासिंहजी युवराज-पदपर प्रतिष्ठित हुए। इसके पूर्व महाराजा नाबालिग थे। राज्य-शासन अंग्रेज रेजीडेण्ट द्वारा किया जाता था। इस अवसरपर बीकानेर शहर एवं सर्वत्र राज्यमें महोत्सव मनाया गया।

उस समय सभी प्रतिष्ठित नागरिकों एवं विद्वानोंको निमंत्रण दिया गया। इस उत्सवमें महाराजा गंगासिंहजीने श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीको, राज्यके अतिशय मेधावी छात्र समझकर काशीसे विशेष बुलावा देकर निमंत्रित किया। ये बीकानेर राज्यके प्रथम ऐसे मेधावी छात्र थे, जो Entrance परीक्षासे ग्रेजुएशनतक लगातार विश्वविद्यालयमें प्रथम एवं सर्वाधिक अंक प्राप्त करनेवाले छात्र रहे। इस अवसरपर श्रीकेडियाजीको भी सम्मान्य नागरिकके रूपमें निमंत्रण मिला था। चिम्मनलालजी गोस्वामीकी प्रकृति आपकी प्रकृतिसे बहुत ही मिलती थी। अतः दोनोंके मन ऐसे मिले कि कभी फटे ही नहीं। समान विद्या-व्यसनी होनेके कारण इनका सख्य सदैव एक-रस रहा। दोनों विद्वज्जनोंमें जैसा सौहार्द था, वैसा ही औदार्य, वैसा ही शौर्य और स्थैर्य भी था। आरब्धकार्यको न त्यागनेवाले उत्तमजनोंमें आप दोनों थे। यद्यपि दोनोंकी वयमें बहुत असमानता थी, श्रीकेडियाजी यहाँ वानप्रस्थोन्मुख वयके थे, वहीं श्रीचिम्मनलालजी यौवनकी देहलीमें पैर रख रहे थे। परन्तु दोनोंके ही लिये अपने जाति-समाज एवं देशमें

"गुणोंका गाडा" विशेषण प्रयोगमें लाया जाता था। दोनों परस्पर जब भी मिलते, सारस्वत-चन्द्रिका, कालिदास, माघ, श्रीहर्ष आदिके प्रबन्धोंपर घण्टों साहित्यिक-वार्त्ताका आनन्द लेते। उस समय इनकी मण्डलीमें बाबू फतेहसिंहजी साहब (बीकानेर के चीफ कोर्टके जज) शेख मोहम्मद इब्राहीम साहब (बीकानेर हाईकोर्टके जज) आदि रहा करते थे।

इसी अवसरपर महाराजाकी ओरसे घोषणा की गयी थी कि यदि समागत सज्जनोंमें से कोई राज्य-संचालन-सम्बन्धी नूतन परामर्श दे, तो उससे लाभ उठाया जायेगा। उन दिनों चाटुकारीका युग था, अतः आप दोनोंके अतिरिक्त सभी आमंत्रित व्यक्तियोंने राज-व्यवस्थाकी मात्र प्रशस्तियोंका ही उल्लेख किया। इस बीच, आप दोनों साहसपूर्वक खड़े हुए और यह कहा कि हमें इस सम्बन्ध में निवेदन करना है। श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीका निवेदन यह था कि "प्रजाकी पुकार सुननेके लिये महाराजा साहब सप्ताह, पक्ष, या मासमें एक दिवस ऐसा नियत करनेका अनुग्रह करें, जिस दिन निर्बाधरूपसे प्रजा महाराजा साहबकी सेवामें अपना सुख-दुःख निवेदन कर सके।"

श्रीअर्जुनदासजी केडियाका सुझाव यह था कि जकातके लिये स्त्रियोंकी तलाशी नहीं ली जावे।" इसपर जकातके तत्कालीन अफसर तैश में आकर बोल पड़े कि "क्या औरतोंको बेपर्द किया जाता है ?" श्रीकेडियाजीका अति निर्भीकतापूर्ण उत्तर था कि "हाँ, क्योंकि किसी भी सभ्य जातिकी महिलाओंकी जकातके लिये तलाशी लेना तो क्या, तलाशी देनेके लिये उनसे कहा जाना भी उन्हें नंगी एवं बेइज्जत करना है। यदि ऐसा करनेसे राज्यकी आयमें कमी पड़े, तो मेरा निवेदन है कि जकातकी दर बढ़ाकर उसे पूरा कर लिया जाय।"

महाराज श्रीगंगासिंहजी पर इन दोनों की निर्भीक सलाहका बहुत असर पड़ा और दोनों ही सुझाव आगे चलकर कार्यरूपमें परिणत हो गये। श्रीगंगासिंहजी महाराज तो इन दोनोंसे इतने प्रभावित थे कि आगे जाकर श्रीअर्जुनदासजी केडियाको तो अपनी एक्जीक्यूटिव कौंसिलका सदस्य बनाया और श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीजीको इसी कौंसिलका सेक्रेटरी नियुक्त कर दिया। कर्नल राव बहादुर राजा हरिसिंहजी सी.आई.ई. (महाराज) ने दरबारकी ओरसे आप दोनोंकी प्रशस्ति करते हुए कहा कि दरबारको इस बातसे बड़ी प्रसन्नता है कि राज्यमें ऐसे स्पष्टवादी मतिमान् प्रजाजन हैं। हमारी प्रजा मात्र भेड़ोंकी टोल नहीं है कि आँख मूँदे चलती जावे, उसमें राज्यभक्तिके साथ-ही-साथ आत्मसम्मान भी कूट-कूटकर भरा है।

उन दिनों बीकानेरमें शेख मुहम्मद इब्राहीम चीफ जस्टिस (जज) थे।

इनको मुशायरेका बहुत शौक था। श्रीचिम्मनलालजीके साथ श्रीअर्जुनदासजी वहाँ भी जाया करते थे। एक दिवस महफिलमें शायर लोग "रंगलाया है दुपट्टा तेरा मैला होकर" – इस तरह पर अपनी-अपनी शायरी सुनाने लगे। श्रीकेडियाजी आशुकवि थे, अतः महफिलमें ही बैठे-बैठे दोनोंने मिलकर इसकी पूर्त्ति कर डाली। श्रीचिम्मनलालजीने इस नज्मको अपने सुमधुर-कण्ठसे गाकर सुनायी। मजलिसमें इसकी खूब वाह-वाही हुई एवं दाद दी गयी। समस्या-पूर्त्तिकी कविता निम्न है –

**"रंग लाया है दुपट्टा तेरा मैला होकर"**
**गुरु गोरखका हुआ जबसे तू चेला होकर ।**
**खाक मलके घूमा बियाबाँमें अकेला होकर ।।**
**पा लिया नूरे खुदा जिस्म घिनैला होकर ।**
**रंग लाया है दुपट्टा तेरा मैला होकर ।।**

श्रीअर्जुनदासजी केडियाकी मृत्यु सन् १९३० ई., तद्नुसार मार्गशीर्ष शुक्ला ११ सोमवार सं. १९८७ वि. को काशीमें हुई। आपके देहावसानके अनन्तर सं. १९८९ वि. में चूरूमें सर्व-हितकारिणी सभा द्वारा आपकी प्रतिमाका उद्घाटन वहाँके तहसीलदार, पं. जेठमलजी आचार्य बी.ए. एलएल. बी. के सभापतित्वमें हुआ। इस अवसरपर चूरू, रतनगढ़ एवं रतननगर आदिके प्रमुख विद्वान् एवं महाजनोंके अतिरिक्त काशीके श्रद्धेय पं. मदनमोहनजी शास्त्री, कल्याण-सम्पादक पं. श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी, सम्मान्य सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दका आदि सभी महानुभाव उपस्थित थे।

श्रीशिवकुमारजी केडिया आपके ज्येष्ठ पुत्र थे। अपने पिताकी ही तरह इनमें भी भगवद्भक्ति भरी थी, परन्तु इनकी भक्तिधारा भगवान् शंकरकी ओर न होकर, भगवान् श्रीकृष्णकी ओर बह चली थी। भगवान् श्रीकृष्णकी इनपर अतिशय कृपा थी। ये अपने पिताके समान ही कवि थे और भगवान् श्रीकृष्णको कविताके रूपमें प्रतिदिन अपनी विनय सुनाया करते थे। श्रीशिवकुमारजीकी प्रार्थना, जो वे श्रीकृष्णसे प्रतिदिन किया करते थे। नीचे दी जा रही है।

**सुन्यौ गुन्यौ सीख्यौ न कछु कृष्ण चहौं नत होइ ।**
**हित मेरो जस रावरो होइ, कीजिये सोइ ।।**
**केहि गिनती हौं, किन्तु हौं, विनती करौं समास ।**
**करिय कृपा करि कृष्ण नित निज दासनको दास ।।**
**मोसो अधम न कृष्ण ! कोउ तोसौं अधम-निवाज ।**
**यह विचारि कीजिय कृपा, बरद-बरद व्रजराज ।।**

एक कृष्ण अघहरन तुम, हौं अधमन सिरताज ।
विलग न जानहु, जायगी वरद ! विरदकी लाज ।।
कीन्हीं कृपा कृपा-यतन ! दीन्हीं मानुष देह ।
कृष्ण पतित-पति पेखि अब तोरन लगे सनेह ।।
मो पति हूजिय जगतपति ! न तु जग अनत बसाउ ।
एकहु बनै न कृष्ण ! तो तजिय जगतपति नाँउ ।।
अघगन अगिनत जनम तें जमा किये जो जोरि ।
जनि हिय आइय कृष्ण तुम तुरत लेहुगे चोरि ।।
तुम ज्योंहू हठ हौं गह्यो हटउँन हठउँ दयाल ।
पतितन पावन कृष्ण ! पन तजहु, न तजहुँ कुचाल ।।

(भावार्थ)

हे श्रीकृष्ण ! मैंने न तो श्रवण-भक्ति की है, न ही आपके भक्त एवं सन्तोंका सत्संग ही किया है। मैंन महापुरुषोंके चरणोंमें विनीत होकर शिक्षा भी ग्रहण नहीं की है। मैं तो केवल आपके चरणोंमें अपना मस्तक झुका रहा हूँ और यह चाहता हूँ कि जिस आपके विधानसे मेरा हित हो, वही आप करें।

आप ईश्वरोंके ईश्वर हो, मैं असंख्य जीवोंमेंसे एक नगण्य तुच्छ जीव, आपके सम्मुख सर्वथा महत्वहीन हूँ, फिर भी संक्षेपमें विनय कर रहा हूँ – मुझपर कृपा करिये और मुझे अपने दासोंका ही दास बना लीजिये।

हे श्रीकृष्ण ! मेरे समान कोई अधम नहीं है और आपके समान कोई दूसरा अधमोंका निर्वाह करनेवाला नहीं है। हे वरदान देनेवालों (शिव-ब्रह्मादिक देवताओं) को भी वरदान देनेवाले ! मुझ पर कृपा करिये।

हे श्रीकृष्ण ! संसारमें पाप-हारी एक मात्र आप ही हो। और मैं पापियोंका सिरताज हूँ। हे वरदान देकर सभीको संतुष्ट करनेवाले, मैं कुछ नहीं जानता, आपके यशकी ही हानि होगी, यदि मेरा कल्याण नहीं हुआ।

हे श्रीकृष्ण ! आपने अति कृपा करके मुझे मनुष्य-देह प्रदान की। किन्तु मुझे पतितोंका स्वामी पाकर अब क्या स्नेह-सम्बन्ध तोड़नेका विचार करने लगे हो ?

हे श्रीकृष्ण ! मेरे पति होनेपर ही आप जगत्पति हो सकते हैं, यदि आप मेरे पति नहीं होना चाहें, तो दूसरा जगत् भले ही बसा लीजिये, इस जगत्के पति तो आप उसी शर्तपर हो सकेंगे, जब मेरे स्वामित्वको (पतिपनेको) स्वीकार करेंगे और इनमेंसे एक भी बात आपसे नहीं बने, अर्थात् न ही आप मुझ-जैसे

अधमके स्वामी बनना चाहें और न ही दूसरा जगत् बसाना चाहें, तो फिर मात्र एक ही उपाय शेष है कि आप 'जगत्पति' नामका त्याग कर दीजिये।

हे श्रीकृष्ण ! मैंने अनगिनत जन्मोंके पाप जमाकर-करके जोड़कर रखे हैं, मेरी आशा यही है कि जैसे ही आप मेरे हृदयमें आओगे, तुरन्त उन्हें चुरा लोगे, क्योंकि आप चोर-शिरोमणि हो ही।

हे श्रीकृष्ण ! आपके ही समान मैंने भी हठ कर लिया है। आप पतितोंको पवित्र करनेका हठ जब नहीं छोड़ते, तो मैं अपनी पाप करनेकी कुत्सित चाल क्यों छोड़ूँ ?

श्रीशिवकुमारजी केडियापर भगवान् श्रीकृष्णकी अतिशय कृपा थी। भगवान् श्रीकृष्ण इनसे स्वप्नमें बातें किया करते थे। जैसे इनके पिताने काशी त्यागकर अन्य कहीं नहीं जानेका व्रत लिया था, उसी प्रकार ये भी वृन्दावन त्यागकर कहीं नहीं जाते थे। परन्तु ये भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके प्रति बहुत ही उच्चकोटिकी श्रद्धा रखते थे। इनकी पोद्दारजीके प्रति इस उच्चकोटिकी श्रद्धामें हेतु उनका श्रीगोस्वामीजी चिम्मनलालजीके प्रति पारिवारिक सम्बन्ध था। ये जब भी गोरखपुर अथवा रतनगढ आते, श्रीगोस्वामीजीके घरपर ही ठहरा करते थे। श्रीगोस्वामीजीके प्रति इनका सख्यसहित अतिशय पूज्य भाव था।

श्रीभाईजीके सत्संगके लिये ये वृन्दावनवासको त्यागकर भी ऋषिकेश, गोरखपुर अथवा रतनगढ़, जहाँ भी श्रीभाईजी होते, अवश्य जाया करते और महीनों उनका सत्संग किया करते। इस सत्संगके प्रति उनकी ऐसी निष्ठा थी कि उसके लिये ये अपने वृन्दावन-वासका नियम भी शिथिल कर दिया करते थे।

पू. स्वामीजी श्रीचक्रधरजी महाराज (प. पू. श्रीराधाबाबा) पर भी इनकी श्रद्धा थी। ये पू. श्री स्वामीजीसे व्रजरसकी साधन सम्बन्धी बार-बार जिज्ञासाएँ करते एवं श्रीभाईजी हनुमानप्रसादजी पोद्दारकी भक्तिजन्य उच्च-रसमयी स्थितिके बारेमें भी उनसे प्रश्न किया करते थे। पूज्य स्वामीजीने इन्हें प्रतिदिन एक लाख नाम-जप करनेका नियम दिया एवं उसे एक माहतक अनवरत पूरा करनेपर उनकी जिज्ञासाओंके सम्बन्धमें कुछ बतलानेकी बात कही। श्रीशिवकुमारजीने पू. स्वामीजीकी आज्ञा शिरोधार्यकी और एक लक्ष भगवन्नाम जपनेका प्रतिदिनका नियम लगातार माहपर्यन्त सांगोपांग निभाया।

श्रीस्वामीजी श्रीकेडियाजीकी निष्ठासे प्रभावित हो गये एवं प्रतिदिन श्रीभाईजीकी महिमामयी स्थितिके सम्बन्धकी बातें उन्हें लिखकर दिया करते। श्रीकेडियाजीको स्वामीजीने इस प्रकार चालीस प्रसंग नोट करवाये। यद्यपि

श्रीस्वामीजीने इन बातोंको अत्यन्त गोपनीय रखनेकी आज्ञा दी थी परन्तु श्रीकेडियाजी इन बातोंको अपने हृदयमें संजोकर नहीं रख सके। उनके मनमें भगवानकी मायाने श्रीस्वामीजीकी अत्युच्च श्रद्धामयी बातोंके प्रति एक क्षीण-सी अविश्वासकी रेखा उत्पन्न कर दी और वे मन-ही-मन विचार करने लगे कि इन बातोंका श्रीभाईजीसे अनुमोदन प्राप्त कर लिया जाय। यदि ये बातें सत्य हैं, तो श्रीभाईजी अवश्यमेव इनका अनुमोदन कर देंगे और अगर ये मात्र श्रीस्वामीजीके भावुकतापूर्ण विचार-भर हैं, तो बात स्पष्ट हो जायेगी। इस विचार-प्रवाहमें बहते श्रीकेडियाजी चूक गये और उन्होंने सभी प्रसंग, जो श्रीस्वामीजीने उन्हें दिये थे, एक दिवस श्रीभाईजीको दे दिये।

श्रीपोद्दारजीने वे सभी लेख, जो श्रीकेडियाजीके पास थे, पढ लिये और अतिशय उपेक्षा दिखाते हुए उन्हें श्रीकेडियाजीको वापस दे दिये। साथ ही यह टिप्पणी कर दी कि ये सब स्वामीजीकी भावुक उड़ान हैं, मैं तो मात्र एक साधारण साधक हूँ, जो कुछ शास्त्रोंमें है, उसे कल्याणमें लिख देता हूँ। मेरी ऐसी स्थिति सर्वथा सर्वांशमें नहीं है।

श्रीकेडियाजीकी, क्योंकि श्रीभाईजीके प्रति श्रद्धा अधिक थी, वे उन्हें सिद्ध-भगवत्प्राप्त पुरुष मानते थे, एवं श्रीस्वामीजीको मात्र एक उच्च साधक; अतः श्री भाईजी कदापि असत्य नहीं बोल सकते, एवं जब मैं उनका श्रद्धालु सत्संगी हूँ, तो मुझसे वे यह दुराव क्यों करेंगे — ऐसा सोचते हुए, उन्होंने श्रीस्वामीजीकी बतायी सभी बातें मात्र उनकी भावना एवं कल्पनाकी उड़ानें हैं- यही धारणा दृढ़ करली।

इधर श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) स्वामीजीके पास आये और उन्हें श्रीकेडियाजीको अपनी गोपनीय अनुभूतियोंको नहीं बतानेके निर्देश दे दिये। श्रीभाईजीका यही कथन था कि श्रीकेडियाजी ऐसी बातें पचा सकें, ऐसे अधिकारी नहीं हैं। श्रीस्वामीजीने सावधान होकर श्रीकेडियाजीसे वे सभी अपनी बतायी बातोंके लेख "एकबार कुछ सुधार करना है" — कहकर वापस ले लिये।

श्रीकेडियाजी तो भ्रमित थे ही, उनके लिये अब वे बातें कोई महत्वपूर्ण थीं भी नहीं। उन्होंने श्रीस्वामीजीको वे सभी लेख लौटा दिये। अवश्य, उनके पास निम्न प्रसंग एक पृथक् कापीमें उतारे रह गये, जो भी उन्होंने अपने पास अति उपेक्षासे ही रख छोड़े थे।

इसके पश्चात् यथा-समय श्रीकेडियाजी वृन्दावन लौट गये। उन्होंने श्रीस्वामीजीको उन लेखोंको लौटानेका आग्रह भी नहीं किया एवं न ही स्वामीजीने उन्हें वे लेख लौटाये ही।

वृन्दावन पहुँचकर श्रीकेडियाजीको स्वप्नमें भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन हुए। उन्होंने श्रीकेडियाजीको सावधान करते हुए कहा कि "तुम ठगा गये हो, श्रीस्वामीजी चक्रधरजी द्वारा लिखी बातें पूर्णतया अक्षरशः सत्य हैं। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने अपनी आत्म-संगोपन वृत्तिके कारण तुम्हें छल लिया है।"

इस स्वप्न से केडियाजीके मनमें अतिशय परिताप हो उठा। उन्होंने वृन्दावनसे पू. स्वामीजी श्रीचक्रधरजीको अति परिताप-भरे पत्र लिखे एवं वे लेख वापस भेज देनेकी प्रार्थना की। परन्तु, क्योंकि भाईजीने स्वामीजीको मना कर दिया था, अतः उन्होंने उनकी प्रार्थना अनसुनी कर दी।

सन् १९४९ ई. में श्रीकेडियाजी गोरखपुर आये थे। वे लेखकके पूर्वाश्रमके मामाजी, श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामीके यहाँ ठहरे थे। लेखक केडियाजीको 'केडिया-मामाजी' कहकर सम्बोधित करता था। श्रीकेडियाजीके चेहरे एवं हाथों-पैरोंमें गलित-कुष्ठके लक्षण प्रकट होने लगे थे। पू. स्वामीजी श्रीचक्रधरजी महाराजकी प्रेरणासे उनकी चिकित्सा वहाँके 'कुष्ठाश्रम'में करायी जा रही थी। पू. स्वामीजीकी आज्ञासे उनकी सेवामें लेखक नियुक्त था। उन्हीं दिनों श्रीकेडिया-मामाजीके अनुग्रहसे लेखकको यह डायरी पढ़नेको मिली थी और उसमें उल्लेख किये इन प्रसंगोंकी श्रीकेडियाजीकी अनुमतिसे लेखकने प्रतिलिपि करली थी।

उन्हीं प्रसंगोंको यहाँ पाठकोंके लाभार्थ प्रकाशित किया जा रहा है। सबसे महत्वपूर्ण बात इन लेखोंमें यही है कि श्रीभाईजीने, जो एक साधारण धर्म-भीरु वैश्य परिवारमें जन्मे थे, और जिनमें प्रारंभकालमें वे सभी त्रिगुणात्मक, प्राकृत दोष-गुण थे, जो एक प्राकृत-जीवमें होने संभव हैं — मात्र साधना करके भगवत्कृपासे कितनी उच्च-स्थिति प्राप्त की; वे साधारण गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते हुए, पत्नी-पुत्री एवं उसके बालबच्चोंका यथावत् पालन करते हुए, किस पारमार्थिक उच्चतम भाव-भूमिमें विचरण करते थे, यही विशेषता यहाँ दर्शनीय है।

राधा राधा राधा राधा

।। श्रीराधा।।

प्रथम प्रसंग

# भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका सर्वदेवमय स्वरूप

*स्थान :*
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी
पोद्दारकी हवेली
दिनांक : १३-२-४१ ई.

प्राप्ति-सूत्र :
श्रीशिवकुमारजी केड़ियाके
पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि

*(पूज्य श्रीचक्रधरजी महाराजने दिनांक १३-२-४१ ई. को निम्न बातें श्रीशिवकुमारजी केडियाको लिखकर दीं)*

एक दिन हम दोनों (पू. स्वामीजी एवं भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) सायंकाल रतनगढ़ ग्राममें धोरोंमें घूमने एवं शौचक्रिया करने गये थे। केडियाजी! श्रीभाईजीने पूरी बातें जो मुझे कहीं, वे सभी अक्षरशः तो मैं कह नहीं सकता, परन्तु आंशिकरूपसे जितनी मेरे स्मृतिपटलपर कुछ काल बाद तक रहीं, उन्हें मैंने संक्षेपमें यथास्मृति कागजमें लिख ली थीं। वस्तुतः उन सब बातोंको यहाँ जितने लोग हैं, उनमेंसे एक भी हृदयंगम कर सके, ऐसी स्थिति किसीकी भी नहीं है। उनमेंसे कुछ अंश जितना आपके लिये लाभदायक हो सकता है, उसे मैं अपनी ओरसे कुछ लपेटकर आपको लिख दे रहा हूँ। मेरा विश्वास है कि आप इन बातोंको मात्र अपनेतक ही सीमित रखेंगे। इन पारमार्थिक रहस्यमयी बातोंको कोई समझ तो सकता है नहीं। इन बातोंकी गंध पाकर मित्र-भावसे ही सही, कोई इनका विकृत बतंगड़ ही खड़ा कर सकता है।

भाईजी कह रहे थे – "स्वामीजी ! अनेक व्यक्ति मुझसे व्यवहार करते हैं। स्त्री-पुरुष, नौकर-चाकर, सन्त-असन्त, साधक-सिद्ध, साधारण-असाधारण, धनी-गरीब, अच्छे-बुरे – सैकड़ों लोग अपनी नई-नई, भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ मेरे सम्मुख रखते हैं, परन्तु मेरी स्थिति ऐसी है कि मुझे वे व्यक्ति ही सत्य अनुभव नहीं होते, न ही उनकी परिस्थितियाँ ही, जैसी वे कहते हैं, सत्य लगती हैं। मुझे तो विशुद्ध सन्धिनी-शक्तिकी ही परिणति जैसे सर्वत्र भरी दृष्टिगोचर होती है। सर्वत्र अथाह मंगलमय भगवल्लीलाका प्रवाह जैसे बह रहा हो, ऐसा

ही अनुभव होता रहता है। यह अखण्ड लीला-प्रवाह ही जैसे मेरा, आपका, एवं सभीका अस्तित्व है, यह अखण्ड अस्तित्व है, जो सतत प्रवाहित होता रहा था एवं होता रहेगा।

''स्वामीजी ! मुझे 'मैं शरीर हूँ' यह प्रायः बोध नहीं रहता। जैसे हम पूर्वजन्मके शरीरोंको सर्वथा भूल जाते हैं, वैसे ही, इस शरीरको भी अधिकांशतः भूला रहता हूँ। कभी इस देहके स्थानपर श्रीकृष्ण, कभी श्रीराधारानी, कभी कोई गोपी, कभी राम, कभी शिव, कभी भगवान् नारायण, मेरा सब यथायोग्य व्यवहार कर जाते हैं। आपसे इस समय कोई प्रापञ्चिक अहंकार सर्वथा वार्त्ता नहीं कर रहा है। जैसे किसी परम विशुद्ध चित्सत्ताकी किसी गहरे कूपसे प्रतिध्वनि गूँज रही हो, इस शरीरसे परमोच्च चित्सत्ता ही क्रियाशील हो रही है। कभी-कभी यह शरीर दिखता है, परन्तु उस कालमें – कोई विश्वास नहीं करेगा कि त्रिगुणात्मक पंचभूत चिन्मय होने कैसे संभव हैं, परन्तु भगवानकी अन्यथाकुर्तुम्-सामर्थ्य कहें, यह शरीर भी पूर्ण सन्धिनी-शक्तिकी परिणति – चिन्मयरूप ही अनुभव होता है। यदि वह त्रिगुणात्मक प्राकृत शरीर भी रहता हो, तो इसके भीतरसे प्रतिध्वनि की तरह कभी कोई बोल जाता है, किसी वस्त्रकी तरह इसे कभी कोई पहन लेता है, इसमें परमोच्च आध्यात्मिक शक्तियाँ विचित्र-विचित्र प्रकारकी लीला करती रहती हैं।''

''स्वामीजी ! मुझे तो ज्ञान ही नहीं रहता कौन इस शरीरसे क्या अपेक्षा कर रहा है, और कौन क्या व्यवहार पा रहा है ? मैं सत्यस्थितिको वाणी देनेकी स्थितिमें नहीं हूँ। कुछ भी निर्धारित हो, तो उसे वाणी दी जाय। सत्य स्थिति तो मेरी सर्वथा प्रपंचसे परे अन्यत्र है। जैसे सूर्य प्रत्येक जीवधारीके निकट-से-निकट है, क्योंकि उसीसे निर्गत ऊर्जासे प्रत्येक जीवधारीकी सब शरीर-क्रियाएँ संभव हो रही हैं, परन्तु वस्तुतः सूर्य प्रत्येक जीवधारीसे अनन्त अकल्पनीय दूरी पर है। इसीसे मिलती-जुलती स्थिति मेरी समझ लीजिये। मैं इस समय भी आपके निकट-से-निकट होता हुआ भी दूर-से-दूर हूँ। इस समय आपसे इस शरीर द्वारा कैसे वार्त्ता हो रही है, कौन वार्त्ता कर रहा है, इस वार्त्ताके पीछे, उसका वास्तविक हेतु क्या है, मुझे कुछ भी ज्ञात नहीं, एवं सबकुछ ज्ञात भी है। बस इसे यही भाषा दे लीजिये कि सन्धिनी-शक्तिका परम कल्याण एवं मंगलमय कृपा-प्रवाह असीम अनन्त उछाल ले-लेकर लहरा रहा है, और इस शरीरके माध्यमसे एक गुब्बारेसे निकली सूं-सूं वायुकी तरह जो भी शब्द स्फोट हो रहे हैं, वे सब उसी मंगल लहरके ही अंग हैं।

राधा राधा राधा राधा

प्रसंग - दो (२)

# यः कर्माणि सन्यसति ततो निर्द्वन्द्वो भवति

*स्थान :*
रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)
दिनांक : २०-२-४१ ई.

*प्राप्ति-सूत्र :*
श्रीशिवकुमारजी केडियाके
संग्रहकी प्रतिलिपि

***(पू स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराजने अपने रतनगढ़के निवासके कमरेमें दिनांक २० फरवरी १९४१ ई. को निम्न बातें बताईं। इनका आधार भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके स्वयं श्रीमुखके वचन हैं, जिन्हें परस्पर वार्त्तालापके समय उन्होंने स्वामीजीसे कहे और स्मृतिके आधारपर बादमें उन्हें कागजमें स्वामीजी द्वारा लिपिबद्ध किया गया।)***

केडियाजी ! ये बातें किसी शास्त्रमें लिखी-पढी नहीं बता रहा हूँ। परन्तु यह भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी सत्य, सत्य, सत्यकी सत्य स्थिति है। श्रीभाईजीका भाव-देह पंचतत्त्वात्मक मनोमय सर्वथा नहीं है, न ही वह दिव्य तेज-प्रधान मंत्ररूप ही है। उनका देह है, परन्तु सर्वथा अप्राकृत है। वहाँ उनका लोक भी है, परन्तु सर्वथा अप्राकृत है। स्वर्गकी तरह किसी भजनरूप कर्मसे प्राप्त होनेवाला वह लोक नहीं है। न ही उसकी तुलना सत्यलोक, ब्रह्मलोक, कैलास अथवा वैकुण्ठसे की जा सकती है। वह भावरूप संसार भगवान् श्रीकृष्णके प्रेम-राज्यकी एक विलक्षण अलौकिक सृष्टि है, जिसमें गति – न तपसे, न कर्मसे, न जपसे, न ध्यानसे, न ही योग-सिद्धियोंसे, न विद्यासे, न ज्ञानसे, न मंत्र-तंत्रसे संभव है। वहाँ किसी भी साधनाके फलका प्रवेश नहीं है। वह तो मात्र श्रीकृष्ण-सुख-स्पृहा लोक है एवं स्वयं भगवती श्रीराधारानी या उनकी नित्य-सिद्धा गोपीकी कृपा ही उस भावराज्यमें प्रवेशका एकमात्र उपाय है।

उस अलौकिक अप्राकृत प्रेम-राज्यमें श्रीभाईजीका प्रवेश कालमानके किस अंश, किस तिथिमें हुआ, कुछ नहीं कहा जा सकता। श्रीभाईजीने स्वयं अपने मुखसे मुझे कहा है कि "अनादिकालसे मैं इसी लोकमें था, हूँ एवं रहूँगा। इस लोकके अतिरिक्त अन्य किसी जगत्की मुझे स्मृति ही नहीं है जैसे मृत्युके पूर्वके किसी शरीर एवं संसारकी हमें कोई स्मृति नहीं है, जैसे टूटे हुए स्वप्नकी दो-चार दिवस पश्चात् स्मृति सर्वथा लुप्त हो जाती है – इसी प्रकार इस हमारे

माया जगत्‌की उस लोकमें नित्य-स्थिति-प्राप्त श्रीभाईजीको स्मृति ही नहीं है। फिर आप कहेंगे कि भाईजीके रूपमें कौन सत्संग कराता है, कौन बोलता है, कौन यथायोग्य सभीसे सब व्यवहार कर रहा है ? तो आप मेरी बातका विश्वास भले ही न कर पावें, अथवा आपकी बुद्धि इसे समझ सकनेकी स्थितिमें भले नहीं हो, परन्तु आपके प्रश्नका सत्य उत्तर यही है कि श्रीभाईजीको यह ज्ञात ही नहीं है कि उनका कोई प्राकृत देह है एवं कोई प्राकृत माया-जगत् भी है। हम प्राकृत हवेली, उनके परिवार, उनके द्वारा किये-कराये सत्संग, वार्त्तालापको सुन सकते हैं, हमारे प्रारब्ध-व्यवहारानुसार भाईजीका देह कुछ कालतक हमें दिख सकता है, और हम सभी उससे व्यवहार पा सकते हैं, परन्तु जहाँ तक भाईजीकी स्वयंकी सत्ताका प्रश्न है, उनमें प्राकृत लेशभाव भी स्पर्श हो सके, यह संभव ही नहीं है। श्रीभाईजी तो अनवरत श्रीकृष्णको ही देखते हैं, उन्हें ही सुनते हैं, उनमें ही जागते-सोते, निवास करते हैं। उनका जीवन अखण्ड घन श्रीकृष्ण-प्रेमरस ही है।

श्रीभाईजीकी स्थितिको सर्वसाधारण समझ ही नहीं सकता। उच्च-साधन सम्पन्न सत्संगी भी इन बातोंको हृदयंगम नहीं कर सकता। एक व्यक्ति अपनी आँखसे यही देखता है कि भाईजी गृहस्थके सभी व्यवहार सांगोपांग कर रहे हैं। वे राजनेताओंसे, आये-गये महात्माओंसे, समाजसेवी सुधारकोंसे, नगरके गणमान्य नागरिकोंसे, समुचित वार्त्ता करते हैं, व्यापारियोंको व्यापार-बुद्धिसे सीख देते हैं, घर-परिवारके लोगोंसे ममता-मोह जताते हैं, घरवालोंके लोक-व्यवहारको सब प्रकारसे साध रहे हैं, जो सम्पादन कार्यमें दिन-रात प्रूफ देखने, लेखोंको व्यवस्थित करने, विशेषांक आदिके लिये सामग्री मँगाने आदि कार्योंकी चिन्ता करते हैं, पचासों व्यक्तियोंके स्टाफको लेकर उनसे यथोचित कार्य ले रहे हैं, उनका प्रपंचसे कोई संबंध नहीं है, तो यह बात सर्वसाधारणके गले उतरनेका तो प्रश्न ही नहीं है, एक उच्च साधन-सम्पन्न सत्संगी भी इसे मात्र बकवास ही मानेगा। मैं स्वयं भी अनेक बार ऐसे सन्देह कर चुका हूँ। परन्तु श्रीकृष्णकी मुझ पर ऐसी कृपा है कि मेरे समग्र सन्देह जब-जब उत्थित हुए, उन्होंने समूल विनष्ट कर दिये।

केडियाजी ! मेरे ध्यानमें युगों-युगोंमें ऐसी उच्च अध्यात्मिक स्थितिका कोई सिद्ध भगवत्कृपा-पात्र आया ही नहीं है। मेरा ऐसा कहना नहीं है कि युगोंमें ऐसा महापुरुष हुआ नहीं है, परन्तु हुआ होगा तो मेरी जानकारीमें नहीं है। मैंने कहीं उल्लेख नहीं पाया है। नारदभक्ति-सूत्रोंमें महासिद्ध प्रेमी-भक्त नारदजीने सिद्धान्तोंमें ऐसी स्थितिका उल्लेख अवश्य किया है। श्रीनारदजी

अपने भक्तिसूत्रके अड़तालीसवें सूत्रमें कहते हैं -

**''यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि सन्यसति, ततो निर्द्वन्द्वो भवति ।''**

यहाँ श्रीनारदजी प्रेमी-भक्तोंके लक्षण बता रहे हैं। भगवान्‌का प्रेमीभक्त जो कुछ करता है, वह भगवान्‌के लिये ही करता है। उसकी न कर्ममें आसक्ति है, न कर्मफलमें। वह तो यंत्रवत् है। परन्तु जहाँतक उसे यह स्मरण रहता है कि मैं यंत्र हूँ, तबतक वह कर्मफलका त्यागी तो होता है, कर्मका त्यागी नहीं हो पाता। कर्मका त्यागी प्रेमी-सन्त तभी होगा, जब वह अपने शरीर एवं संसारको सर्वथा विस्मृत कर जायगा। जगत् एवं शरीरकी स्मृति रहते भगवान्‌में पूर्ण तल्लीनता कहाँ हुई ? प्रेमी-भक्तको जब आठों-पहर रात-दिवसका भी ज्ञान नहीं रहता, उसके ध्यान-पथसे भगवान् जब एक क्षणके लिये भी नहीं हटते, उस स्थितिमें उसे पता ही नहीं रहता है कि मैं शरीर हूँ, मेरा शरीर एवं कोई संसार भी है और मुझसे कुछ कर्म हो रहा है। उसके मन-बुद्धि तो सम्पूर्णतया भगवान्‌में डूब जाते हैं। और उसका प्राकृत अहंकार पूर्णतया भगवन्मय हो जाता है, तब उस अहंकारके स्थानपर एक भावजगत्‌का भागवती, अप्राकृत अहंकार उदय हो जाता है।

उस अप्राकृत भागवती अहंकारकी प्राप्तिके साथ ही उस प्रेमीभक्तका अप्राकृत भाव-जगत् प्रारंभ हो जाता है, तब उस प्रेमी-सन्तको न तो प्राकृत जगत्‌की स्मृति ही रहती है, एवं न ही उसे प्राकृत काल, रात-दिवसका भान होता है। उस स्थितिमें जैसे हम पूर्वजन्मकी पूर्णतया विस्मृति कर देते हैं, उस महाकृपापात्र प्रेमीभक्तकी मन-बुद्धि इस प्राकृत मायाजगत्‌की पूर्णतया विस्मृति कर देती है। वह भगवान् और भागवती लीला जगत्‌से ऐसे एक हो जाता है, जैसे एक बूँद समुद्रमें गिरकर समुद्रसे एक-मेक हो जाय। वह नित्य भगवल्लीला का अप्राकृत पात्र बन जाता है।

उसी स्थितिका उल्लेख इस अड़तालीसवें सूत्रमें श्रीनारदजी कर रहे हैं कि भक्त समग्र कर्मोंका स्वरूपतः त्यागकर द्वन्द्वरहित भगवान्‌का यंत्र हो जाता है। तब उस भक्तके अन्तःकरणमें भगवान् स्वयं विराजित हुए उसके प्रारब्ध पूरे होनेतक सांगोपांग कर्म करने लगते हैं।

श्रीभाईजीकी ऐसी ही विलक्षण निर्द्वन्द्व अवस्था है। उनके शरीरगत मैं-तू, मेरे-तेरे, सुख-दुख, हानि-लाभ, जन्म-मृत्यु, दिन-रात, आदि द्वन्द्वोंका आत्यंतिक विस्मरण हो गया है। उनका इस प्राकृत मायाराज्यसे प्रयोजन ही अब नहीं रहा है। भाईजी एक अविच्छिन्न अखण्ड भगवत्प्रेमके महान् अप्राकृत चिन्मय समुद्रमें डूबकर तन्मय हो गये हैं। उनसे लोक-वेदका सब आश्रय

स्वयमेव उसी प्रकार छूट गया है, जैसे सर्पके शरीरसे उसकी केंचुल छूट जाती है। उनका लोक-वेदका त्याग तिरस्कार-मूलक द्वेषात्मक नहीं, अपितु तृप्ति, कृतकृत्यता और विस्मृतिमूलक है। भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) ने वेदोंका त्याग नहीं किया है, अपितु वेदोंने ही उन्हें पूर्णकाम, अपनी परिधि एवं पहुँचके परे मानकर उनपरसे अपना अधिकार उठा लिया है। श्रीभाईजी विधि-निषेधकी सब मर्यादासे परे पहुँच गये हैं। वे वेदोंको लाँघकर एक अनिर्वचनीय भगवत्प्रेममें मतवाले हैं। वे अपने प्रियतम श्रीकृष्ण-सुख-तात्पर्यैक प्रीतिकी जीती-जागती मूर्त्ति हैं।

श्रीकेडियाजी ! भगवान्ने श्रीगीताजीमें ऐसे भक्तके समग्र योग-क्षेमके निर्वाहकी प्रतिज्ञा की है, अतः अब श्रीपोद्दारजीके शरीरको उनके प्रारब्ध पूर्ण होनेतक जिलाये रखने अथवा उस शरीरके सम्बन्धियों, परिचितोंसे यथायोग्य यथाभाव सर्वव्यवहार सांगोपांग निर्वाह करनेका, उनसे अपना पूर्ण यंत्रवत् सम्पूर्ण निजवांछित कर्म करानेका दायित्व स्वयं साक्षात् सर्वलोक-महेश्वर श्रीकृष्णको वहन करना पड़ रहा है। श्रीपोद्दारजीको तो पता ही नहीं है कि किसी स्वामी चक्रधर नामक साधुके साथ हाथ पकड़कर शौचक्रिया करने एकान्त रेतके टीबोंकी ओर कौन जा रहा है ? ग्रामके लोगोंके 'जयरामजी'के अभिवादनका "भाया प्रसन्न है, राजी है ?" – कहकर कौन उत्तर दे रहा है ? उनके शरीरको यंत्र बनाकर सर्वलोक-महेश्वर ही ये सभी क्रियाएँ सांगोपांग कर रहे हैं। श्रीभाईजीके साथ प्राकृत जगत्का सम्बन्ध सत्यांशमें लेशमात्र भी नहीं है। उन्हें माताजीकी, सावित्रीकी स्मृति ही नहीं है। वे नित्य ही अपने भावराज्य में हैं, परन्तु अब उनके रूपमें साक्षात् सर्वलोकमहेश्वर, सर्वमायाधिपति श्रीकृष्ण ही सब लोक-व्यवहारका सांगोपांग निर्वाह कर रहे हैं। अतः उनके सम्पर्कमें आनेवाले माया जगत्के सभी जीव चाहे वे मक्खी, मच्छर, पशु-पक्षी, मनुष्य, पितर, देवगण कोई भी हों एक-न-एक दिन तर जावेंगे। उनके प्राकृत शरीरका अस्तित्व त्रिभुवनके लिये परम पवित्र और मंगल-निधान है।

**राधा राधा राधा राधा**

प्रसंग - तीन (३)

# भाईजी और श्रीकृष्ण

*स्थान :*
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली
रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)
दिनांक : २७-२-४१

*प्राप्ति-सूत्र :*
श्रीशिवकुमारजी केडियाकी
कापीसे प्रतिलिपि

## आलोक

***(परम पूज्य स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराजने भाईजी श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दारके सम्बन्धमें निम्न बातें लिखकर दीं। ये सभी बातें उन्हें साक्षात् श्रीकृष्णने प्रकट होकर अपने श्रीमुखसे कही थीं। भगवान्‌के श्रीमुखके वचन होनेसे इन्हें प्रथम पुरुषमें ही लिखा गया है।)***

ये भगवान्‌के श्रीमुखके वचन हैं—

"हनुमानप्रसाद पोद्दार जैसे सन्त और मुझमें कहीं कोई अन्तर कदापि नहीं मानना चाहिये। इसकी कृपा और मंगलमयताका दान मुझसे भी अधिक है। वह विलक्षण प्रेमी है। 'पूर्ण' कहकर कोई ब्रह्मतत्त्वका निर्वचन भले ही कर पावे, परन्तु इसके प्रेमका निर्वचन मैं सर्वलोकमहेश्वर स्वयं परमात्मा भी करना चाहूँ, तो नहीं कर सकता। क्योंकि इसका प्रेम नित्य नव-नवायमान है और क्षण-क्षण वेगपूर्वक अभिवर्द्धनशील है। मैं तो इसके प्रेमास्वादनमें गूँगा एवं बहरा हुआ डूबा रहता हूँ। मैं तो अपने स्वादको भी नहीं कह सकता। बस, कभी अथाह रुदन अथवा कभी अनन्त महान् आनन्दकी लहरोंमें लहराते रहना ही मेरी नियति है। आश्रयालम्बन-प्रधान इसका भाव होनेसे यह क्षण-क्षण मेरा भोग्य हुआ मुझे अनन्त रसोर्मियोंके रूपमें सदासे सुख-ही-सुख दान करता रहता है और मुझसे कुछ भी बदलेमें नहीं चाहता। मात्र देते रहना ही इसका स्वभाव है। इसके स्पर्श, रसालाप और मिलन-आलिंगन-सुखके लिये मैं तरसता रहता हूँ। हमारा परस्परका प्रेम सर्वथा अनिर्वचनीय और अचिन्त्य है।

अन्तमें बस इतना ही जान लें कि इस महासिद्ध प्रेमीसन्तके रोम-रोमसे दिव्य, विशुद्ध महा-महामंगलमयी, विश्वपावनी प्रेम तरंगें निस्सृत होती रहती हैं जो सबको (बिना अधिकार-भेदके) निस्संकोच सतत मेरा दान करती रहती हैं? मेरा दान करनेमें समर्थ ऐसे दिव्य प्रेमी सिद्धसन्त युग-युगमें कभी बिरले ही सृष्टिमें प्रकट होते हैं। **राधा राधा राधा राधा**

प्रसंग - चार (४)

# भाईजीकी दृष्टिमें आते ही सब 'श्रीकृष्ण' हो जाते हैं

*प्रेषिति :*

## श्रीशिवकुमारजी केडिया

स्थान :
श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली,
ग्राम एवं पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)
दिनांक : ५ मार्च १९४१

प्राप्तिसूत्र :
श्रीशिवकुमारजी केडियाके
पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि

## आलोक

*(प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराजने निम्न लेख उपरोक्त तिथिको अपनी कुटियामें दिया। इसमें उनका स्वयंका विलक्षण अनुभव निहित है।)*

केडियाजी ! सच्चा प्रेम कभी घटता तो है नहीं, वरं वह सदा बढ़ता ही रहता है। प्रेममें कहीं परिसमाप्ति नहीं है। भाईजी (श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार) का सदा यही भाव रहता है कि मुझमें तो प्रेम है ही नहीं। भाईजीके विच्छेद-रहित प्रेमकी सतत वृद्धिका क्रम कभी टूटता ही नहीं। परम प्रेमके दिव्य-रसमें डूबे हुए भाईजी अपने प्रेममय, रसमय प्रियतम (भगवान्) को सर्वत्र देखते हैं। उन्हें कोई दूसरी वस्तु दीखती ही नहीं। कोई भी वस्तु, चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन हो, उनके सम्मुख भगवान् बनकर ही आती है। वे किसी साधकको ही, सच्चरित्र, सदाचारीको ही भगवान् देखें, सो बात नहीं है। उनका प्राणिमात्रके प्रति सहज प्रेम है। यह उनका प्रेम उनकी हृदय-गुहामें अति सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम – मात्र अनुभवमें आनेवाला है। यह प्रेम प्राणिमात्रको भगवान्से मिला देनेवाला है। जैसे एक छिपकली, एक फतिंगा भी यदि भाईजी (हनुमानप्रसाद पोद्दार) के सम्मुख आता है। एक ग्राम-सूकर जो पूर्णतया मलिन मलसे सना है, भाईजीको दृष्टिगोचर होता है, तो वह भगवान् श्रीकृष्ण बनकर ही उनके सम्मुख आता है, त्रिगुणात्मक जीव बनकर नहीं। अब इस पावनतम प्रेममय दृष्टिका ही सुदूर भविष्यमें यह अमोघ फल होगा कि वह फतिंगा निश्चय ही

भगवान् श्रीकृष्णको अपने स्वरूपतत्त्वके रूपमें प्राप्त कर लेगा। भगवान् अपने निखिल प्रेमी-भक्तकी दृष्टिकी सत्यता कालके किसी अंशमें अवश्य-अवश्य प्रतिफलित कर देंगे। जब भक्त-सम्राट प्रह्लादजीकी दृष्टिको सत्य प्रतिपादित करनेके लिये भगवान् खंभेमें से प्रकट हो गये, तो भाईजी जैसे परम प्रेममें डूबे सन्तकी दृष्टि भी एक दिवस निश्चय ही उनके देखे सत्यको हेतुरहित रूपसे प्रकट करनेवाली होगी ही।

भाईजीके कानमें जो कुछ भी, शब्द-ध्वनि आती है, वह केवल प्रेममय भगवान्‌की स्वरलहरी ही होती है। अतः वे नित्य-निरन्तर भगवान्‌की मुरलीकी मीठी तानमें ही मस्त रहते हैं। इसी प्रकार उनके मुखसे भी प्रेममय शब्दराशि ही झरती है। उनकी वाणी अपने प्रियतम भगवान्‌से प्रेम-वार्त्तालापके अतिरिक्त कुछ करती ही नहीं। वे जो कुछ बोलते हैं, वह उनके प्रियतमका गुण-गान ही होता है।

एक दिवस मैं अपने साधन-कक्षमें बैठा, अपने आराध्यके ध्यानमें निरत था; अचानक मेरे कानोंमें भाईजीकी अतिरोष भरी तेज आवाज आयी। वे इतने रोषभरे स्वरसे बोल रहे थे कि मुझे उनके क्रुद्ध होनेका सन्देह हो गया। मैंने मन-ही-मन सोचा – "क्या भाईजीको इस प्रकार क्रोध भी आता है ?" मैंने इस सन्देहके निवारणकी प्रार्थना अपने आराध्य श्रीकृष्णके सम्मुख कर दी। श्रीकृष्ण ही भाईजीकी महिमा मेरे कानोंमें जब-तब डालते रहते थे, अतः मेरा सन्देह मैं अन्य किसके सम्मुख रखता ?

सहसा श्रीकृष्णने ही मुझे प्रेरणा दी कि मैं भाईजीके सम्मुख ही अपना सन्देह क्यों न प्रकट कर दूँ ? बस, यह विचार आते ही मैं अपने आसनसे उठकर भाईजीके कमरेकी ओर चल पड़ा। अपने कमरेमें भाईजी किन्हीं रतनगढ़ ग्रामके सेठसे वार्त्तालाप कर रहे थे। उनके सम्मुख वे सेठ भी बैठे थे।

मैं जाकर चुपचाप एक ओर बैठ गया। मेरे मनमें आया कि सन्तसे उसके व्यवहारका अति गोपनीय रहस्य समझना है, अतः प्रथम उनके चरणोंमें भगवद्भावसे अति विनयपूर्वक प्रणाम करना चाहिये।

अतः अपनी दृष्टि मैंने उनके चरणोंमें केन्द्रित कर दी। मुझे यह देखकर अति आश्चर्य हो रहा था कि जैसे ही मैंने अपनी दृष्टि हनुमानप्रसाद पोद्दाररूप देहके चरणोंमें केन्द्रित की, वहाँ वह देह थी ही नहीं। मैंने देखा, कहीं मेरी भावुकताके कारण मुझे मस्तिष्कगत कोई विकार तो नहीं हो रहा। अतः मैंने पुनः वहाँसे दृष्टि हटाकर कमरेमें इधर-उधर अनेक वस्तुओंपर दौड़ायी। फिर मैं भाईजीके पास रखे एक अखबारको देखने लगा। मैंने पुनः भाईजी (हनुमानप्रसाद

पोद्दार) के मुखकी ओर दृष्टि उठायी। मैंने पाया, वे मेरे आनेके उपरान्त भी उसी प्रकार उद्विग्न और क्रोधमें हैं। उनकी वाणी शीघ्र बोलनेके प्रयासमें हकला रही है और शब्दोंका शुद्ध उच्चारण भी नहीं कर पा रही है।

मैंने पुनः उनके चरणोंकी ओर दृष्टि डाली, तो देखा वहाँ उनकी देह थी ही नहीं। वहाँ तो किसी गोपीके अतिशय सुकुमार, परम सुकोमल चरण थे। इन चरणोंमें माहुरकी लालिमा अलंकृत थी। पैंजनी और चरणोंके परम बहुमूल्य आभूषण स्पष्ट परिलक्षित हो रहे थे। मेरे नेत्र उन चरणोंकी अभूतपूर्व शोभासे भर गये। अहा ! कैसी अलौकिक नख-मणियाँ थीं ? उन नख-मणियोंसे कैसी परम स्निग्ध, चिन्मय ज्योत्स्ना छिटक रही थी, वह शोभा इतनी निराविल, पवित्र थी कि सम्पूर्ण त्रिगुणात्मक अविद्या अपनी मूल मायाशक्तिसहित ही वहाँसे पलायन कर गयी थी। अहा ! उन चरणोंमें चिपटे धूलि-कण भी बाह्यरूपसे जड़ नहीं थे, परम चिन्मय ज्योतिर्मान् थे। वह दर्शन ही परम शन्तम, विशुद्ध सत्त्वसे ओत-प्रोत, परम आनन्दमय एवं अनन्त कल्याणकारी था। मेरा चित्त वह विजड़ित हो गया। दृष्टि वहाँसे हट ही नहीं रही थी।

सहसा मेरे कानोंने सुना। मानों कोई परम मधुर अमृत समुद्र गरज रहा हो। ऐसी मधुरवाणी, इतनी प्रेमभरी, ऐसी रसमयी कि उसका वर्णन करनेको शब्द ही अन्वेषण नहीं किये जा सकते – मेरे हृदयको अमृत सिक्त कर उठी–"महाराजजी ! आज आपका इस समय कैसे आना हुआ, यह तो आपके एकान्त ध्यानका समय है ?"

यह परम मधुरवाणी सुनकर तो मैं स्वेदसे लथपथ हो उठा। मुझे कम्प हो उठा। मेरा मुख लज्जासे लाल हो उठा। मैंने नेत्र उठाये। अवलोकन तो करूँ – उस वदन-सरोजका जो ऐसी सुमधुर, कोकिलाकी कल-काकलीको भी तिरस्कृत करनेवाली वाणी बोल रहा है। देखा – श्रीभाईजीके स्थानपर तो एक त्रैलोक्य-मोहक नारी-सौन्दर्य अभिव्यक्त है। यह क्या हुआ ? श्रीभाईजी कहाँ गये ? भाईजीके स्थानपर यह अनिंद्य सुन्दरी नारी कैसे प्रकट हो गयी ? अहा ! इसके अंग-अंग कितने मनोहर हैं ! कुन्दन-द्युति सुचिक्कण इसका गौरवर्ण है। इसका वर्ण सुधाके समान शीतल, सरस, मादक और प्राणोंको आप्यायित करनेवाला है। कोटि-कोटि चन्द्रोंके शीतल प्रकाशको तुच्छ करनेवाला तेज उसके अंग-अंगसे झर रहा है। यह बाला तो माधुर्य, लावण्य, रूप, सौरभ, सौकुमार्य, शृंगार, सौशील्य, चाञ्चल्य, यशस्विता आदि सर्वगुणोंकी असीम उदधि है। इसके अंगोंमें नील दुकूल आधृत है। उत्तुंग वक्ष रक्त कंचुकीसे आच्छादित हैं। कण्ठदेशपर विलक्षण शोभाशाली रत्नजटित हार हैं। सर्वोपरि

पुष्पमाला झूल रही है। अंग-अंग रत्नजटित आभूषणोंसे अलंकृत हैं। लम्बी घुँघराली अलकोंसे कितनी मनमोहक है — इसकी चूड़ा। केशपाश पुष्पमालाओंसे ग्रथित हैं।

मैं स्तब्ध उस नारीकी शोभा देख रहा था। क्या ये भाईजी हैं ? मैं चकित था। अचानक मेरी दृष्टि उन सेठजीपर गयी। परन्तु वहाँ तो सेठजी भी लुप्त हो गये थे।

अरे, अरे ! सेठजीके स्थानपर तो विविध-रस-विलासके आकर नील सुन्दर श्रीकृष्ण मुसका रहे थे। अखिल ब्रह्माण्ड-नायक, अनन्त अपरिच्छिन्न ऐश्वर्य एवं ज्ञानको विस्मृतकर, विमुग्ध भोले किशोर बने वहाँ विराजित हैं।

मैं मन-ही-मन श्रीभाईजी एवं उन सेठजी दोनोंको प्रणामकर उठकर चला आया। मेरे निवासपर आकर मैं घण्टों अचिन्त्य-दशामें पड़ा रहा। मेरे समग्र सन्देह विगत थे। भाईजी जो कुछ भी बोलें, वह हमें चाहे क्रोधमें भरी गरज सुनायी पड़े, परन्तु इसे निश्चय ही मान लीजिये, क्रोध भरी गरजका स्रोत परम एवं चरम रस-वारिधि है। भाईजीका तिरस्कार, भाईजीकी उपेक्षा और घृणा भी शिवोदधि है, महा-महाकल्याणकी निर्झरणी ही उसे मान लेना चाहिये। जिस महाकृपापात्रपर भाईजी क्रुद्ध होंगे, वह निश्चय ही उनके महाप्रेमामृत-सिन्धु में डूबेगा ही। एक बार मात्र अल्पकालके लिये वह भले ही उस क्रोधसे घबड़ाकर व्यथित हो उठे। भाईजीकी दृष्टि भी जिस-जिस महाभाग्यवान् जीवपर पड़ती है, वहाँ भले ही आज नहीं, निकट अथवा सुदूर भविष्यमें ही सही, परमानन्द रस-सुधामय श्रीकृष्णको प्रकट होना ही पड़ेगा।

राधा राधा राधा राधा

---

प्रसंग - पाँच (५)

# वृद्धा गृह-सेविकाको विलक्षण बुद्धियोगका दान

*प्रस्तुति :*

## प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*प्रेषिति :*

## श्रीशिवकुमारजी केडिया

*स्थान :*
**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली**
**ग्राम. पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)**

*प्राप्तिसूत्र :*
**श्रीशिवकुमारजी केडियाके**
**संग्रहकी प्रतिलिपि**

दिनांक :
**निश्चित तिथि - अज्ञात**
**लगभग मार्च मास, १९४१ ई.**

केडियाजी ! भाईजीके शरीरमें रक्त नहीं बहता, मेरे सत्यपर विश्वास कर लीजिये, उनमें मात्र प्रेम-ही-प्रेम, आनन्द-ही-आनन्द प्रवाहित हो रहा है। उनके समस्त अंग मात्र-प्रियतम श्रीकृष्णका ही अनुभव कर रहे हैं। भाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) की सम्पूर्ण इन्द्रियाँ मात्र अपने प्राण-प्रियतम श्यामसुन्दरको ही विषय कर रही हैं। उनकी आँखें अहर्निश कोटि-कोटि शशधरोंकी कान्ति बिखेरनेवाले लावण्य-सिन्धु श्यामसुन्दरको सर्वत्र देखती हैं। कान सदा उन्हींकी मधुरातिमधुर, ब्रह्ममयी वेणुध्वनि सुनते रहते हैं। भाईजीकी नासिका नित्य-निरन्तर उसी नटवरकी अंग-सौरभको सूँघती रहती है, उनकी जिह्वा अविच्छिन्नरूपसे उसी प्रेम-सुधाका आस्वादन करती है और उनका रोम-रोम सर्वदा उसी अखिल सौन्दर्य-माधुर्यरसाम्बुधि रसराजका परम सुखस्पर्श ही अनुभव करता है।

भाईजी जैसा सन्त कहीं देखने-सुननेमें नहीं मिलेगा, जिसके आकाशमें अन्य कोई शब्द है ही नहीं, मात्र एक ही शब्द है – वह है, अपने प्राण-सार-सर्वस्व प्रियतम नीलमणिका 'श्रीकृष्ण' नाम । भाईजीकी प्राणवायुमें मात्र एक ही परम रसमय परम-पावन स्पर्श भरा है और वह शिव-संस्पर्श है – श्रीकृष्णके परमपूत अंगोंका। भाईजीके शरीरमें जो भी तेज तत्त्व है – वह है एकमेव श्यामतेज

नीलमणिदेवका – जो परम निर्मल, निरामय, सर्वशिव है, जिसकी संतुलना विश्व-सृष्टिमें कहीं हो ही नहीं सकती। भाईजीके शरीरका जलतत्त्व और उनके प्रियतम नीलसुन्दरका अधर-सुधारस एकमेक हो चुके हैं, उनमें अभिन्नता नहीं, अभेदावस्था व्यक्त है। भाईजीका सर्वस्व उनका प्रियतम नीलमणि है – जो उनके सबमें ओत-प्रोत हो गया है। भाईजीकी पत्नी श्रीकृष्ण हैं, पुत्री श्रीकृष्ण हैं, भाईजीका घर, उनके सम्बन्धी, जामाता, उनके नौकर, उनकी बहिनें, उनका परिवार, वंश, उनके पिता-पितामह-प्रपितामह, माता-मातामही, प्रमातामही, सब श्रीकृष्ण हैं। भाईजीका घर, मकान, निवास, हवेली, नोहरा, सब श्रीकृष्ण हैं। भाईजीकी गौ, नौकर, उनका श्वान-सूकर भी श्रीकृष्ण हैं। उनके चतुर्दिक् ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें, बाहर-भीतर, सर्वत्र मात्र श्रीकृष्णका ही निवास है। उनके चतुर्दिक् सर्वत्र प्रेम-ही-प्रेम, आनन्द-ही-आनन्द, श्रीकृष्ण-ही-श्रीकृष्ण हैं। उनके कानमें जो कुछ भी शब्दावली आती है, वह प्रेममय प्रियतम श्यामसुन्दरके प्रेम-संगीतकी स्वर-लहरी ही होती है। वे अपने प्रियतम नीलसुन्दरका गुण गाते-गाते कभी थकते ही नहीं। क्षण-क्षणमें उन्हें प्रियतम श्यामसुन्दरके प्रेमरसामृतका अनुपम स्वाद मिलता रहता है। वे अपनी अतृप्त रसनासे उसी अमृत रसपानमें मत्त रहते हैं। उनके चित्तमें उनके प्रियतमके सिवा अन्य किसीका स्थान ही नहीं रह गया है। उनके सम्पूर्ण अन्तःकरणमें एकमात्र उनके प्रियतमका ही अखण्ड साम्राज्य और पूर्ण अधिकार है। ऐसा जरा-सा भी स्थान नहीं, जहाँ किसी दूसरेकी कल्पना छायारूपसे भी आ सके। उनका चित्त साक्षात् प्रियतमके प्रेमका स्वरूप ही बन गया है। उनके समस्त अंग उनके प्रियतम श्रीकृष्णका ही अनुभव कर रहे हैं। उनकी इन्द्रियाँ केवल भगवान्को ही अपना विषय करती हैं। भाईजीका समस्त विश्व प्रेममय, आनन्दमय, रसमय या श्रीकृष्णमय है। उनकी दृष्टि जहाँ भी जाती है आनन्द, प्रेम, सौन्दर्य, माधुर्य वहाँ लबालब भर जाता है। उनके दृश्य, द्रष्टा – सभी मधुर हैं; हम-तुम सभी मधुर हैं। भाईजी परमानन्द रससुधा सिन्धु हैं और उनमें उनका सब कुछ मधुरातिमधुर है। भाईजी जिस नित्य महान् दिव्य प्रेमामृत-रससागरमें निमग्न रहते हैं – वह सर्वथा अनिर्वचनीय है। वे पराप्रेमाभक्तिके मूर्त्तिमान् विग्रह हैं।

जो अपने प्रियतमके अतिरिक्त दूसरेको नही देखता, दूसरेको नहीं सुनता, दूसरेको नहीं जानता, दूसरेका संस्पर्श नहीं करता, वही अविनाशी सनातन, सत्य प्रेमी है।

श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) के नोहरे की, जहाँ प्रतिदिन सत्संग हुआ करता था, स्वच्छता करने एक गरीब ब्राह्मणी आती थी। उसकी भाईजीके

प्रति अतिशय श्रद्धा थी। वह सबसे पृथक्, दूर बैठकर चुपचाप भाईजीका सत्संग सुना करती। वह भाईजीके एक-एक शब्दको इस श्रद्धासे हृदयंगम करती – मानों भाईजी साक्षात् भगवान्को प्रत्यक्ष जाननेवाले भक्त हों और जो कुछ कह-बोल रहे हैं वह बहुत ही अनमोल बात हो। वह बहुत भावसे सत्संग-भूमिको नित्य प्रणाम करती। जिस-जिस स्थानपर भाईजीके चरण पड़ते, वह उस स्थानकी धूलि चूपचाप उठा लेती थी। वह उस धूलिको नित्य सिरपर लगाती। सत्संग-भूमिको तो वह तीर्थों-का-तीर्थ मानती थी। उसका यह सुदृढ भाव था कि भाईजी प्रतिक्षण भगवान्से वार्त्ता करते हैं, उनके ही अनन्य सेवक हैं और उनके मुखसे साक्षात् भगवान् ही बोलते हैं। वह यह भी विचार करती थी कि भाईजीका घर भगवान्का साक्षात् मन्दिर है, यहाँ भगवान् अवश्य आते हैं अतः इतनी-सी इनके गृहकी, नोहरेकी स्वच्छताकी सेवा करनेसे संभव है, भगवान्की मंगलमयी दृष्टि मुझ अधम नारीपर भी पड़ जाय।

भाईजी तो सभी जानते हैं – बहुत ही उदार स्वभावके हैं। वे सेवाका मूल्य चुकानेमें सदा आगे-से-आगे तत्पर रहते हैं, अतः वे उस ब्राह्मणी सेविकाके घर कभी गेहूँ, बाजरा, तेल, घी, भिजवानेकी चेष्टा करते, कभी एक सौका नोट कागजमें लपेटकर उसे गुपचुप देनेका प्रयास करते। वह भाईजीका तिरस्कार तो नहीं करती, परन्तु वह कुछ भी दिये जानेपर ग्लानिसे भर उठती। वह भाईजीसे विनय-पूर्वक कहती – "मैं आपके घरकी दासी होऊँ, ऐसा सौभाग्य तो मेरा है नहीं, हाँ, यहाँ सत्संग होता है, जब आप सभीको अब ओरसे स्पृहाशून्य होकर अपनी चित्तवृत्ति अनन्यभावसे भगवान्में लगानेकी बात कहते हैं, तो क्या मैं निस्वार्थरूपसे इस भगवान्के यशगान-स्थलीकी स्वच्छता करनेकी अधिकारिणी भी नहीं ? आपने तो अपनी सारी ममता और आसक्ति जागतिक पदार्थोंसे सर्वथा निकालकर, एकमात्र प्रियतम भगवान्को ही अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है। आपने तो मोक्ष-सुखसे भी जब चित्त हटा लिया, तो मुझे इन जगत्की वस्तुओंको क्यों देते हैं ? जब भगवान्में अनन्य प्रेम ही वास्तवमें अमृत है और यह सब नाशवान् है तो मुझे सबसे मधुर वस्तुका ही दान कीजिये, लौकिक वासना तो मृत्यु है। आप मुझे भगवान्का सामीप्य दीजिये न। जब आप जैसे भक्तजन मुक्ति भी न चाहकर मात्र भक्ति चाहते हैं, तो मुझे आप भक्तिपूर्वक इस तुच्छ सेवाको तो निस्वार्थ भावसे करने दीजिये।"

भाईजी उस निर्मल भाव-भक्तिवाली महिलाकी बात सुनकर हँसने लगते, परन्तु फिर भी कुछ-न-कुछ उसकी झोलीमें डाल ही देते थे।

केडियाजी ! उस मारवाड़िन सेविकाकी मृत्युके समय भाईजी मुझे अपने

साथ ले गये थे। उस सेविकाको मृत्यु खेल लग रही थी। वह भगवान्‌को प्रत्यक्ष अपने सम्मुख देख रही थी। वस्तुतः उसकी मृत्युकी ही मृत्यु हो रही थी। प्रभुकी लीलाके सिवा 'मृत्यु' संज्ञक कोई भयावनी वस्तु उसके ज्ञानमें रह ही नहीं गयी थी। इसीलिये वह सर्वथा पूर्णकाम, पूर्ण-परितृप्त थी। सब लोक-परलोकके मूल-स्रोत भगवान् उसके सामने थे। उसके लिये भगवान्‌की लीलासे पृथक् कोई सत्ता ही नहीं रही थी।

जैसे ही भाईजी उसके सामने गये, बुढ़िया-सेविका प्रसन्नचित्त अपने बिस्तरपर बैठ गयी। उसके नेत्रोंसे उस दिन ठीक ऐसा अनुभव हुआ कि जो भगवान्‌की भक्ति करते हैं, सचमुच ही वे अमृतके समुद्रमें क्रीड़ा करते हैं। उस बुढ़ियाको भाईजी साक्षात् भगवान् श्यामसुन्दर ही दिख रहे थे। उसने आते ही पहले भाईजीकी अति पवित्र भावसे पूजाकी। फिर भाईजीसे कहा कि जैसे जटायुकी मृत्यु भगवान् रामके सम्मुख हुई, मेरे धन्य भाग्य ! आज मेरा शरीर आपका दर्शन करते हुए आपके परमधामको जा रहा है। फिर मुझे सम्बोधित करके कहने लगी – "बाबा ! ये भाईजी भक्त-सेठ नहीं, साक्षात् भगवान् हैं। मैं इन्हें अबतक भक्त ही मानती रही। परन्तु आज इन्होंने मेरे मृत्युके समय अपना सब परदा हटा लिया है। अहा ! इनके अंग-अंग कितने मनोहर हैं ? काजलके समान इनका श्यामवर्ण है। अहा ! कैसी शीतल, सरस, मादक मधुरतासे लबालब, भरा इनका रूप है। अंग-अंगपर रत्नोंके आभूषण शोभा पा रहे हैं। अहा ! इनके कण्ठमें गुञ्जाकी माला कैसी शोभा दे रही है ? लम्बी घुँघराली अलकें हैं।"

भाईजी इस बुढ़ियाकी हाथकी नाड़ी थामे हँस रहे थे। भाईजीकी वह हँसी भी अपार कृपामयी थी। भगवद्भक्त-शिरोमणि भाईजीके नोहरेकी झाड़ू-बुहारीकी सेवा-मात्रसे वह बुढ़िया निहाल हो गयी। उसका मानव-देह धारण करना सफल हो गया था। बुढ़ियाने प्रतिदिन महाप्रेमीशिरोमणि भाईजीकी चरणरजसे अपनेको पवित्र किया था। अतः वह परम कृतकृत्य हुई, भाईजीके ही रूपमें भगवान्‌का दर्शन करती हुई, निष्कण्टक भगवद्धामको गयी।

केडियाजी ! इस बुढ़ियाने मेरी आँखें खोल दीं। वह मुझे कहा करती थी कि बाबा ! नदीमें तैरनेवाले मनुष्यके लिये सबसे अधिक आवश्यक बात होती है – हाथों और पैरोंसे नदीके जलको फैंकते जाना। जो निरन्तर जलको काट नहीं सकता, वह नया तैरनेवाला नदीके पार नहीं जा सकता। इसी प्रकार इस महाभयावनी दुस्तर माया-नदीको तैरकर जो उस पार भगवल्लोकको जाना चाहते हैं उन्हें अहंकार और विषयासक्तिरूपी जलको बराबर अलग फैंकते रहना

चाहिये। जो अहंकार और आसक्तिको दूर नहीं फैंक सकता, वह इस मायानदीके जलमें रमकर अतल तलमें डूब जायेगा। परन्तु इस मायानदीमें इतने भीषण भँवर पड़ते हैं कि हाथ-पैर मारते रहनेपर भी उनके थक जानेकी अथवा श्वास टूट जानेकी संभावना बहुत ही अधिक रहती है। अतएव बीच-बीचमें बाबा ! आलम्बन, कोई (आसरा) सहारा चाहिये, जहाँ कुछ देर ठहरकर कोई विश्राम, करले। इन भाईजी जैसे सन्तोंकी चरणरजके सहारेसे (बलसे) मुझे तो तैरना पड़ा ही नहीं। मैं तो इन महापुरुषकी कृपा-रूपी सुदृढ़ नावपर सवार होकर अनायास ही भवसागरको तर गयी। बुढ़ियाके भाव यही थे, यद्यपि यह भाषा मेरे द्वारा परिशुद्ध की गयी है।

केडियाजी ! श्रीमद्भागवतमें भगवान् अपने अतिशय प्यारे सखा उद्धवजी को उपदेश करते हुए कहते हैं -

**निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम् ।**
**सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ।।**

(श्रीमद्भा.११।२६।३२)

अर्थात्, जलमें डूबते हुए लोगोंके लिए जैसे नौका अवलम्बन है, उसी प्रकार इस भयंकर संसार-सागरमें गोते खानेवालोंके लिये शान्तचित्त ब्रह्मवेत्ता सन्तजन ही परम अवलम्बन हैं।

महाभाव सन्तोंकी सेवासे पाप-ताप और मोह अनायास ही दूर हो जाते हैं। केडियाजी, जिस प्रकार अग्निदेवका आश्रय लेनेपर शीत, भय और अन्धकार तीनों ही का नाश हो जाता है, इसी प्रकार सन्तपुरुषोंकी चरण-रज-सेवनसे पाप-रूपी शीत, जन्म-मृत्युरूपी भय, और अज्ञानरूपी अंधकार – ये कोई भी नहीं रहते ।

**राधा राधा राधा राधा**

---

प्रसंग - छः (६)

# कुत्तेकी योनिसे भगवल्लीला-लोकमें

*प्रस्तुति :*

## परम पूज्य स्वामी चक्रधरजी महाराज

*प्रेषिति :*

## श्रीशिवकुमारजी केडिया

*स्थान :*
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली
ग्राम. पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)
दिनांक : २० मार्च, १९४१ ई.

*प्राप्तिसूत्र :*
श्रीशिवकुमारजी केडियाके
पत्र-संग्रहसे प्रतिलिपि

केडियाजी ! निर्मल हरिभक्तिकी प्राप्तिके लिये महापुरुषोंकी कृपा अमोघ उपाय है। भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) कैसे हेतुरहित दयालु हैं, इसके ज्वलन्त उदाहरणके रूपमें मैं यह सच्ची घटना आपको सुना रहा हूँ।

रतनगढ़में एक धनी सेठ थे। धनीलोग प्रायः दुष्पूरणीय कामनाओंका आश्रय लिये रहते हैं। वे प्राय धनकी रखवाली करते रहना ही अपना अति महत्वपूर्ण कर्त्तव्य समझते हैं। चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेदबुद्धि, बैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, सट्टा एवं मद ये पन्द्रह अनर्थ धनी मनुष्योंमें प्रायः देखे जाते हैं। सेठजीमें भी पर्याप्त धनका अभिमान एवं मद था। वे अपार विषय-चिन्ताओंमें ही घिरे रहते थे।

सेठजी समझते थे कि मैं भोगी हूँ, सुखी हूँ, मेरे समान और कौन है, मैं दान करके अपना नाम-यश अक्षुण्ण कर लूँगा। परन्तु भगवान् श्रीमद्भगवद्गीतामें कहते हैं –

**अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजाल समावृताः ।**
**प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।।१६-१६।।**

अर्थात् जो अनेक प्रकारसे भ्रमित चित्तवाले हैं, साथ ही मोहरूप जालमें फँसे हैं, उन विषय भोगोंमें अत्यन्त आसक्त लोगोंको निश्चय ही मैं महान् अपवित्र नरकोंमें गिराता हूँ।

श्रीसेठजी प्रायः श्रीभाईजीके पास आया करते थे, परन्तु श्रीभाईजीके

सत्संगका उनपर कोई स्थायी असर नहीं पड़ता था। अहंकारी लोग सदा अपनेमें ही गुणाभिमान करते हैं, अतः वे दूसरोंकी निन्दामें रत रहते हैं। धनाभिमानके साथ परद्वेष नामक अवगुण रहता ही है। अतः धनीलोग दूसरोंके शरीरमें स्थित अन्तर्यामी परमात्माके प्रति द्वेषी हो ही जाते हैं।

श्रीसेठजी ऊपरसे तो भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के सत्संगमें रहते, परन्तु भीतरसे वे उनसे ईर्ष्या, स्पर्द्धा एवं द्वेष भी रखते थे। उसका कारण यही था कि भाईजीके पास धन नहीं होते हुए भी उनकी लोक-प्रतिष्ठा रतनगढ़ ग्राममें सर्वोपरि थी। भाईजी अकिंचन थे, परन्तु उनपर तत्कालीन बीकानेर राज्यके महाराजा भी बहुत आदर और श्रद्धा रखते थे। श्रीभाईजीका राज्यके अधिकारियोंपर भी अति स्नेह भरा दबदबा था। ग्राममें धनी-मानी सभी सेठोंके युवक, बच्चे भाईजीके संकेतपर लोक-सेवाका ऊँचा-नीचा काम करनेमें भी नहीं हिचकिचाते थे। इन सभी बातोंसे सेठजी ऊपरसे प्रेमका दिखावा करते हुए भी भीतरसे भाईजीसे ईर्ष्या करते थे।

उन सेठजीकी मृत्यु हुई। सेठजीके परिवारके लोग सेठजीकी मृत्युके समय भाईजीको बुलाने भी आये, परन्तु भाईजीको अचानक शौच-क्रियाकी प्राकृत माँग हो आयी और वे उससे निवृत्त हों, तबतक समाचार मिला कि श्रीसेठजीकी मृत्यु हो चुकी है।

ये सेठजी कुत्तेकी योनिमें चले गये। श्रीभगवान गीतामें कहते हैं -

**तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।**
**क्षिपाम्यजस्त्रमशुभानामासुरीष्वेव योनिषु ।।**

अर्थात् "उन द्वेष करनेवाले पापाचारी क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बारंबार आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूँ।" भाव यही है कि ऐसे धनीलोग प्रायः सूकर-कूकर आदि निम्न योनियोंमें ही गिरते हैं।

उस दिन मैं (पू. स्वामी चक्रधरीजी महाराज) अपने ध्यानकक्षमें बैठा था। अचानक मुझे भगवान् श्रीकृष्णका संकेत मिला कि वे सेठजी कुत्तेकी योनिमें जा रहे हैं। उन सेठजीकी मृत्युके कुछ दिन पश्चात् ही भाईजीके नोहरेकी कुतिया गर्भवती हुई और उसके अनेक पिल्लोंमें वे सेठजी भी एक पिल्ला बन गये। जैसे ही मैं अपने उपासना-कक्षमें बैठता, भगवान् श्रीकृष्ण अनेक पिल्लोंमें से एक पिल्लेपर मेरा ध्यान केन्द्रित कर देते और मुझे संकेतित कर कहते कि "देखो ! सेठजीकी क्या ही शोभा है ?"

मैं भगवान् श्रीकृष्णके संकेतपर दयार्द्र हो उठता और प्रभुसे प्रार्थना करता कि सेठजीको इस दुर्गतिसे मुक्त करिये। परन्तु प्रभु मेरी बात सुनी-अनसुनी

कर देते और मुझे अम्बरीष भक्तकी कथा सुना देते। वे कहते – "चक्रधर ! मैं सर्वथा भक्ताधीन हूँ, मेरे सीधे-सादे, सरल भक्त इस हनुमानप्रसाद पोद्दारने मेरे हृदयको अपने हाथमें कर रखा है। यह हनुमानप्रसाद मुझे अतिशय प्यार करता है और मैं इसे । साधुबाबा ! इस पोद्दार-भक्तका एकमात्र आश्रय मैं हूँ। भला बताओ, इस निर्दोष, अकारण हितू भक्तकी झूठी निन्दा करनेवालेको मैं कैसे क्षमा कर सकता हूँ ? फिर तो मेरे शरणागत भक्त मुझ सर्व-रक्षा- समर्थके रहते अरक्षित हो जायेंगे। यह तो धनाभिमानी एक नरक-कीट, तुच्छ, जीव था, भक्तराज पोद्दारका यदि मेरी अर्द्धांगिनी लक्ष्मी भी तिरस्कार करे, तो मैं उस विनाशरहित लक्ष्मीका भी त्याग कर दूँ। इस भक्तराज पोद्दारने मेरे लिये स्त्री-पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक सबका त्याग कर दिया है। यह सबको छोड़कर मुझसे प्रेम करता, मेरी शरण है। जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रत्यसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही नर साथ अपने हृदयको प्रेम-बन्धनसे बाँधे रखनेवाले समदर्शी इस साधु पोद्दारने मुझे वशमें कर लिया है। चक्रधर महाराज ! यह पोद्दार मेरा हृदय है और इसका हृदय, मन एवं अन्तःकरण मैं हूँ। निरपराध, साधु-हृदय इस अकारण-हितूकी निंदा और अपवाद करनेवालेका अमंगल तो होगा ही। यह मेरा अनुशासन है।"

केडियाजी ! भगवान् श्रीकृष्णके नेत्रोंमें लालिमा देखकर मैं चुप हो जाता। रतनगढ़में भयंकर शीत लहरीसे युक्त निशा होती। वह सेठ कुत्ता बना निशापर्यन्त शीतसे काँपता 'कूँ-कूँ' करता। मेरे मनमें आता कि उठकर उन सभी कुक्कुरोंको मैं अपनी कम्बल उढ़ादूँ। परन्तु फिर यह समझकर चुप कर जाता कि सारे रतनगढ़में न-जाने कितने पिल्ले और अन्य जीव भी शीतसे काँप रहे होंगे। तू किन-किनकी सेवा करेगा ?

एक दिवस मैंने श्रीकृष्णसे पूछा – "प्रभो ! इस सेठको पिल्ला ही बनाना था, तो यहाँ मेरे इस भजन-कक्षके नीचे रहनेवाली इस कुतियाके ही गर्भमें इसे क्यों डाला है ? आप बार-बार इसे मेरे दृष्टि-पथमें लाकर मुझे क्यों करुणासे भर देते हैं ? आपको जब मेरी करुण प्रार्थनाको अनसुनी ही करना है तो मुझे प्रति रात्रि इसका दुःख दिखाकर दयार्द्र एवं व्यथित करनेमें आपका क्या हेतु है ?"

एक दिन सायंकाल, वह सेठ, कुत्ता बना पुनः चीं-चीं कर रहा था, तो मुझे पुनः अतिशय दया आयी। उस समय भाईजी अपनी पिरोल (घरके मुख्यद्वार) पर ही बैठे शौच जाकर अपने हाथ मटिया रहे थे।

श्रीभाईजीके पास उस समय कोई भी नहीं था। मैं जाकर उनके पास खड़ा हो गया। उन्होंने मुझे देखकर कहा – "कहिये स्वामीजी, कैसे आये ?"

मैंने कहा – "भाईजी ! अमुक सेठ जिनकी कुछ काल पूर्व मृत्यु हुई थी, कुत्तेकी योनिमें चले गये हैं। यह सत्य है कि वे आपकी इधर-उधर अकारण निन्दा करते-फिरते थे। परन्तु आपके लिये तो भाईजी ! निन्दा एवं स्तुति दोनों ही समान हैं। निन्दाके रूपमें ही सही वे आपका अवगुणरूपमें स्मरण तो नित्य करते थे ही। अतः उस आपके स्मरण-जनित पुण्यसे ही कुत्तेकी योनिमें भी वे आपके दरवाजेपर पड़ी रहनेवाली इस कुतियाके ही पुत्र हो गये हैं। भाईजी ! मैंने आपके ही मुखसे एक दोहा सुना है –

**धणीके द्वारे पड़े रहौ, धणीकी ठोकर खाय ।**
**कबहुँक धणी निवाजिहै, जो द्वार छाँड नहिं जाय ।।**

भाईजी ! अब आप कृपा करके आपके द्वारपर कुत्तेके पिल्लेके रूपमें पड़े इन सेठजीकी सद्गति कर दीजिये। जबतक आप कृपा नहीं करेंगे तबतक विश्वकी कोई शक्ति इनकी अधम गतियोंसे रक्षा नहीं कर सकती। न जाने कितने कल्पोंतक ये सेठ सूकर, कूकर, सरीसृपादि निम्नतम योनियोंमें ही दुर्गति भोगते रहेंगे। भाईजी ! आपका अनिष्ट करनेसे ही इसकी यह अधोगति हुई है, अब आप ही इसे क्षमा करके मुक्त करिये।"

"भाईजी ! आप ही इसके अपराधको क्षमाकर इस अधम सेठको अपार दुःख-राशिसे मुक्त कर सकते हैं। भाईजी, ये दूसरे कुत्ते तो अपने कर्मोंका भोग पूरा करके उत्तम गतिको प्रयाण कर जायेंगे, परन्तु यह सेठ अपने प्रयास और सत्कर्मसे तो महज्जन अपराधकी ज्वालासे कभी भी त्राण नहीं पा सकेगा। इसीलिये, मेरा हृदय इसके प्रति करुणार्द्र हो रहा है, क्योंकि इसकी अधोगतिसे मुक्ति होनी ही नहीं है।"

केडियाजी ! भाईजी मेरी बात सुनकर मुसकाये। उन्होंने बड़े प्यारसे अपने मिट्टीसे मटियाये हाथ मेरे दोनों कंधोंपर रख दिये। फिर अति स्नेहसे बोले – "स्वामीजी ! आप मुझे इतना निष्ठुर क्यों समझते हैं ? आप और मैं क्या दो पृथक् व्यक्ति हैं ? जब आपने इसको क्षमा कर दिया, और इसके प्रति इतनी दया दिखलायी, तो मैंने तो इसे कबका ही क्षमा कर दिया।"

"हाँ, देखिये ! इस सेठको इस मेरी निन्दा करनेका यह फल दे रहा हूँ कि यह सीधा मेरे लीलालोक भगवद्धामकी यात्रा कर रहा है। बस, यह इसका अन्तिम कुत्तेका जन्म है। और यह जन्म भी इसका बहुत ही अल्प-कालका है। आप स्वयं देखेंगे, यह दो-चार दिनोंमें ही मृत्युका ग्रास हो जायेगा और मृत्युके उपरान्त तत्क्षण ही सीधा उसी भगवद्धामको जायेगा – जो मेरा लीलालोक है, मेरा भाव-संसार है। इसकी मुझसे किञ्चिन्मात्र भी हीन गति नहीं होने वाली।"

"परन्तु हाँ, यह रहस्य आपके सम्मुख प्रकट करनेके पूर्व आपसे यह वचन अवश्य ले लेना चाहता हूँ कि आप इस सेठके बच्चोंको इस मेरे बताये रहस्यकी गन्ध भी नहीं देंगे। न तो उन्हें यह सूचना देंगे कि उनके पितामह भगवद्रोषवश कुत्तेकी योनिमें पड़े, न ही यह ही प्रकट करेंगे कि मेरे हेतुसे उन्हें भगवान् राधामाधवका लीलाधाम प्राप्त हुआ। आप बस, मुझे यह वचन दे दीजिये और निश्चित होकर अपने भजन-कक्षमें भजन करिये।"

मैं भाईजीकी महानुभावता देखकर अतिशय द्रवित-चित्त हो उठा था। मेरा मन कर रहा था कि भाईजीकी चरण-रजमें लोटने लगूँ, परन्तु वह एक सार्वजनिकरूपसे उपहासास्पद नाटक हो जाता तथा भाईजीको यह अभिप्रेत भी नहीं था, अतः अपने मनके भावावेगको रोककर मैं अपने भजन-कक्षमें निम्न मुख किये चला आया।

केडियाजी ! जिन भगवान्के प्रेमी-भक्तोंका ऐसा परम मंगलमय स्वभाव है, उन भगवान्का कितना कृपालु स्वभाव होगा, तनिक विचार तो करिये। जो भक्तोंका अपराध करते हैं, भक्त उनको अपना धाम, अपनी गति प्रदान करते हैं – कैसा अनन्त, असीम औदार्य है उनका ? जिनपर वे क्रोध करते हैं, उनमें उनके साक्षात् इष्ट श्यामसुन्दरको वे व्यक्त होनेको विवश कर देते हैं।

केड़ियाजी ! मेरी बातोंको केवल भावुकताकी उड़ान मत मानियेगा। ये तथ्य परम-सत्य-के-सत्य हैं। भाईजीके गुण इतने दिव्य हैं कि मैं तो चकित हो जाता हूँ। भगवान्की मैं अपने पर अनन्त कृपा मानता हूँ कि उन्होंने मुझे ऐसे दिव्य-भक्तिगुण-सम्पन्न प्रेमीसन्तका सान्निध्य प्रदान किया।

राधा राधा राधा राधा

प्रसंग संख्या - सात (७)

# सच्चे सन्त कभी निराश नहीं करते

*प्रस्तुति :*

## प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*प्रेषिति :*

## श्रीशिवकुमारजी केडिया

*स्थान :*
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजीकी हवेली
ग्राम. पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)
दिनांक : उल्लेख नहीं
अनुमानित मार्च-अप्रैल, १९४१ ई.

*प्राप्तिसूत्र :*
श्रीशिवकुमारजी केडियाके
पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि

चूरू नगरमें सेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका पैतृक घर है। यद्यपि इनके सभी भाइयोंका व्यापार तो बाँकुड़ा, बंगालमें है, परन्तु स्वयं श्रीसेठजी एवं उनके सभी भाई वर्षभरमें एक बार तो अवश्य ही चुरू आया करते हैं। इस घटनाके समय श्रीशिवदयालुजी सपरिवार चूरू ही थे। ये श्रीजयदयालजीके बड़े भाई थे। अपने अनुज जयदयालपर इनका अतिशय प्रेम-भाव था। श्रीसेठजी जयदयालजी चाहते थे कि शिवदयालुजी उनके सत्संग द्वारा गीताके तत्त्व एवं रहस्यको पूर्णतया हृदयंगमकर अपने जीवनमें खरा उतार लें। वे इन्हें निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार, सगुण-साकार-सविशेष परमात्मतत्वकी गुत्थियाँ खोल-खोलकर अपने सत्संगमें सुनाते। श्रीशिवदयालुजी मनोयोगपूर्वक अपने अनुजका सत्संग सुनते भी थे, परन्तु न जाने क्यों, उनका मन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके प्रति अधिक आकृष्ट था। श्रीशिवदयालुजी सत्संग तो अपने अनुज श्रीजयदयालजीका करते, परन्तु भीतर-ही-भीतर उनका मन समर्पण करना चाहता था, श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारको ही। श्रीशिवदयालुजीकी यह सुदृढ़ आस्था थी कि भाईजीको भगवान् श्रीकृष्णकी सहज सदैव प्राप्ति है और वे चाहें तो भगवत्प्रार्थना करके किसीको भी भगवद्दर्शन ही नहीं भगवत्प्रीति प्रदान करा सकते हैं। श्रीशिवदयालुजी ऐसा

मानते थे, कि यह सामर्थ्य उनके अपने अनुज जयदयालमें भी है – परन्तु शिवदयालुजीका मन वृन्दावन-बिहारी श्रीकृष्णपर अधिक आकृष्ट था, न कि गीतावक्तापर। अतः उन्हें जब भी श्रीभाईजी हनुमानप्रसादजी पोद्दारका संग एवं एकान्त अवसर मिलता, वे उनसे अपने आराध्य एवं जीवन सर्वस्व श्रीकृष्णके दर्शन करानेकी प्रार्थना अवश्य करते। वे अनेकोंबार श्रीभाईजीसे अपनी माँग, जब भी अवसर मिला, दोहरा चुके थे।

श्रीभाईजी श्रीशिवदयालुजीकी प्रार्थना सुन लेते, किन्तु मुसकुराकर टाल देते। एक दिवस जब उन्होंने बहुत ही आग्रह किया तो "भाईजीने अपनेको एक अतिनगण्य, साधारण-गृहस्थ, श्रीसेठजीका सत्संगी-साधक कहकर उन्हें श्रीसेठजीसे भगवद्दर्शन करानेकी प्रार्थना करनेको कहा।

श्रीशिवदयालुजी मन-मसोसकर रह गये। फिर भी उन्होंने आशा नहीं छोड़ी। श्रीशिवदयालुजी समझते थे कि उनसे अपनी साधना द्वारा मनको शुद्ध करके भगवान्में लगाना संभव ही नहीं है। वे तो घर-परिवारकी, राग-द्वेषात्मक बेड़ियोंमें उलझे हैं, अतः उन्हें तो आशा थी कि कोई अपनी कृपा-शक्तिके द्वारा उनके अन्तःकरणमें ऐसी भक्तिरसकी बाढ़ लावे जिससे उनका अहंकार चूर-चूर हो जाय, बुद्धि भक्तिरसमें ओत-प्रोत हो जाय, मन उसमें डूब जाय और इन्द्रियाँ भगवदनुरागिणी बन जावें। परन्तु ऐसा अकारण हेतुरहित कृपालु कौन संभव है ?

श्रीसेठजी उन्हें साधनाकी उच्च-से-उच्च बातें बताते थे, परन्तु अथाह भवसागरको शिवदयालुजी अपने पुरुषार्थसे पार कर लें, यह उनके वशकी बात सर्वथा, सर्वांशमें ही नहीं थी। अतः श्रीशिवदयालुजी पूर्ण श्रद्धासे श्रीसेठजी जयदयालजीका सत्संग तो अवश्य करते थे, परन्तु वे कृपाकी आशा श्रीभाईजीसे ही करते थे। उन्हें श्रीभाईजीपर ऐसी सुदृढ़ आस्था थी कि भाईजी बस चाहभर लें, तो वे चाहे कितने ही अनधिकारी हों, एक क्षणमें ही उनकी सम्पूर्ण अपात्रता समाप्त हो सकती है और भगवान् श्रीकृष्णकी मुनि-मन-मोहिनी मुसकानसे उनका हृदय एक क्षणमें ही उद्भासित हो सकता है।

विषयानुसन्धान तो उसी अभागेके नयन-मन करते हैं और तभी तक करते हैं, जबतक उसकी इन्द्रियोंके पथमें वृन्दावन-चारी गोपीजन चितचोर नहीं आता। जिस क्षण नयनोंकी राहमें **"बर्हापीडं नटवर वपुः"** आगया, फिर भला इन तुच्छ इन्द्रियोंकी कहाँ सामर्थ्य है कि उसके आकर्षणको छोड़ सकें।

कालमान तो व्यतीत होना ही था। यद्यपि श्रीशिवदयालुजीने अनेक बार भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजीके सम्मुख मुख खोला। किन्तु उन्हें श्रीभाईजीसे

उनकी मुसकानके अतिरिक्त और कुछ भी ठोस आश्वासन प्राप्त नहीं हुआ।

इसी साधको मनमें लिये शिवदयालुजी अचानक रुग्ण हो गये। उनकी धीरे-धीरे रुग्णता बढ़ती गयी और एक दिन श्रीभाईजीके पास समाचार पहुँचा कि शिवदयालुजीके बचनेकी कोई उम्मीद नहीं है।

**'सन्त हृदय नवनीत समाना'**

श्रीभाईजीका हृदय द्रवित हो उठा। सन्तोंका हृदयतो नवनीतके समान परम सुकोमल होता ही है, उन्हें पिघलते कितनी देर लगती है।

केडियाजी ! श्रीभाईजी मेरे (स्वामी श्रीचक्रधरजीके) पास आये। सायंकालका समय था। मैं अपने ध्यानकक्षमें बैठा था। श्रीभाईजीने मेरे पास आकर मुझसे कहा – "स्वामीजी ! श्रीशिवदयालजी बहुत बीमार हैं। ऐसा समाचार है कि अब उनका बचना कठिन है। उनकी बहुत कालसे ऐसी इच्छा रही कि उन्हें भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन एवं भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो। स्वामीजी ! मैंने उनसे अनेक बार आग्रह किया कि वे श्रीसेठजीसे प्रार्थना करें, परन्तु उन्हें न-जाने क्यों सारी आशा मुझसे ही है। श्रीसेठजी (जयदयालजी गोयन्दका) भी चूरू हैं। अब तो लगता है, उनका अन्तिम-काल है। कृपया आप श्रीकृष्णसे प्रार्थना करिये कि उन्हें भगवान्के दर्शन हो जावें। मैं इसीलिये आपके पास आया हूँ।"

मैं भाईजीकी बात सुनकर मुस्कराने लगा। मैंने भाईजीको स्लेट-पट्टीमें लिखकर बहुत समझानेकी चेष्टा की कि मेरे आराध्य श्रीकृष्ण और आप दो स्वतंत्र एवं पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं। जो श्रीकृष्ण भाव-जगत्में मेरे आराध्य, इष्ट हैं, वे ही पांचभौतिक कलेवर धारण किये साक्षात् आपके रूपमें मेरे सम्मुख हैं। परन्तु वे मेरे उत्तर सुननेका धैर्य थोड़े ही रखते थे। उनका ऐसा स्वभाव ही है कि वे जब कोई आग्रह करते हैं, तो उस आग्रहके समर्थनमें दूसरेकी बात सर्वथा नहीं सुनते। बस, अपना ही आग्रह दुहराते चले जाते हैं।

वे मेरी स्लेट-पट्टीपर लिखी बात पढ़े बिना ही बोलते चले गये। "स्वामीजी ! आप मेरा कहना मानिये तो सही, आप प्रार्थना तो करिये, और देखिये, सायंकालको तो आपको मेरे साथ चूरू चलना ही है।"

जो होनी थी, वही हुई। चूरूमें जब भाईजी पहुँचे, तो श्रीशिवदयालुजी मरणासन्न थे। उन्हें बाह्य होश बहुत ही क्षीण-सा ही था। श्रीभाईजीको देखते ही श्रीशिवदयालुजीके मुखपर एक विलक्षण प्रसन्नता व्याप्त हो गयी।

केडियाजी ! मैंने स्पष्ट अनुभव किया, जैसे श्रीकृष्ण भाईजीके हाथों बिके हों। श्रीभाईजीके प्रति श्रीकृष्णके प्यारकी कोई सीमा नहीं थी। भाईजी मानों स्वतंत्र हों – अपने आराध्य – सर्वलोकमहेश्वर श्रीकृष्णका चाहे जैसा उपयोग

करें, चाहे जिसको उनका दान कर दें। वाह रे ! भगवान्का भक्त-वात्सल्य ! भाईजीके संकेतपर उनके आराध्य श्रीकृष्ण असंभवको भी संभव कर देते थे।

शिवदयालुजी अपनी साधनगत योग्यतासे भगवान् श्रीकृष्णके लीला-पुरुषोत्तम रूपका दर्शन-लाभ प्राप्त करें, यह असंभव था। श्रीसेठजी जयदयालजी गोयन्दकाने उन्हें ध्यान करानेकी अनवरत चेष्टा की थी। परन्तु शिवदयालुजीकी वृत्तियाँ तो निर्गुण, निराकार तत्व पर स्थिर ही नहीं हो रही थीं और न ही सगुण-साकार स्वरूपको पकड़ पा रही थीं। उनको देहाध्यास-जन्य अहंता पूरी जकड़े थी। उनकी चित्त-भूमि दृश्य-जगतकी सत्यतापर स्थिर थी और उनका 'मैं', 'तू', 'मेरा-तेरा, राग-द्वेष निवृत्त ही नहीं हो पा रहा था। उन्हें भगवान् श्रीकृष्णकी परम चिन्मय रसमयी लीलामें सन्निविष्ट कर देना, यह भाईजी जैसे परम कृपालु, महापुरुषका ही चमत्कार था।

संसारमें ऐसे महापुरुष मिल जायेंगे जो शास्त्रमें उल्लखित तत्त्व-रहस्यकी बातें सुनाकर चकित कर देते हैं। परन्तु उन्हें स्वयं ज्ञान-निष्ठा हो, अथवा वे भक्ति-निष्ठ हों, सो बात आवश्यक नहीं है। ऐसे महापुरुष भी मिल सकते हैं, जिन्हें भगवान्की कभी एकाध झाँकी हो गयी हो। इस दर्शनसे उनका भक्त होनेका अभिमान भले ही पुष्ट हो गया हो, परन्तु वे जगत्के कल्याणके हेतु हो सकें – कठिन बात है। हाँ ! कुछ ऐसे बिरले सन्त भी उपलब्ध हो सकते हैं, जिनका सत्यांशमें अस्तित्व जगत्के अशेष मंगलका हेतु हो, परन्तु वे भी किसी मरणासन्न प्राणीको, जिसका देहाध्यास निवृत्त ही नहीं हुआ हो, भगवान्का दर्शन-जन्य कृपा-दान कर दें – ऐसा कठिन है।

केडियाजी ! मेरे जीवनमें अनेकों महात्मा आये हैं। मैंने ऐसे प्रवचन कर्त्ताओंको सुना है जो सचमुच ही चकित कर देनेवाली भगवत्प्रेमकी शास्त्रीय बातें बता जाते हैं, जो ब्रजलीलाओंकी अति रसमयी कथाएँ तो कहते हैं, परन्तु भीतरसे वे सर्वथा, सर्वांशमें कोरे ही होते हैं। मुझे ऐसे महात्मा भी मिले हैं, जिन्हें भगवान् राधाकृष्णकी नीचे स्तरकी लीलाओंके दर्शन तो हुए हैं, परन्तु वे स्वयं भगवान्की लीलाओंके पात्र नहीं बन पाये हैं मुझे उन ऊँची भूमिकावाले महापुरुषोंके भी दर्शन हुए हैं, जो स्वयं इन परमोच्च भगवल्लीलाओंमें प्रवेश पाकर कृतार्थ हैं, परन्तु किसी अन्यको उन भगवल्लीलाओंके आस्वादनका अधिकारी बना देना, उनके वशकी बात नहीं। श्रीभाईजीमें तो केडियाजी ! मैंने ऐसा भगवत्कृपाका चमत्कार देखा है कि जिसे **'न भूतो न भविष्यति'** कहा जा सकता है। भगवान् श्रीकृष्णकी श्रीभाईजीके प्रति विलक्षण **'भक्त-पराधीनता'** है।

श्रीभाईजी श्रीशिवदयालुजीके बगलमें ही कुर्सी लगाकर बैठ गये। मैं

उनके पास था ही। वे हाथ पकड़कर उनकी नाड़ी देख रहे थे। सहसा ही शिवदयालुजीको होश आ गया। वे कुछ बोलने लगे। घरवाले समझ रहे थे कि वे कोई अपने मनकी सांसारिक इच्छा प्रकट करना चाह रहे हैं किन्तु सच्ची बात यही थी कि श्रीशिवदयालुजी इस लोकमें थे ही नहीं। वे बोल रहे थे – "अहा देखो ! भगवान् श्रीकृष्ण मेरे सामने खड़े हैं। इस शोभाको देखकर मेरे सब पातक नष्ट हो गये। अहा ! कैसी पवित्र रूपराशि है, भगवान्‌की।"

"अहा ! प्रभुका श्यामवर्ण इतना सुशीतल प्रकाशयुक्त है कि उनकी श्यामल शोभा, उनके ही अंगोंमें विजड़ित कुन्दनके रत्नजटित आभूषणोंकी शोभाको तुच्छ कर दे रही है। अहा ! उनके अंगोंकी गन्ध ऐसी मादक है कि ऐसा कोई इत्रसार नहीं कि उस गंधकी तुलनामें ठहर सके।"

शिवदयालुजीके नेत्र मुँदे थे। मैंने देखा – भाईजी ! अपनी विशिष्ट मस्ती-भरी हँसी हँस रहे हैं।

परिवारकी कोई स्त्री बोल उठी – "ताऊजी ! भगवान्‌से प्रार्थना करिये, वे अपने चरणोंका आपको संस्पर्श करावें ।" परन्तु शिवदयालुजी तो मानों किसी दूसरे लोकमें प्रवेश कर गये थे। किसीकी कोई भी बात उनके कानमें प्रवेश ही नहीं कर रही थी। वे तो अपनी ही धुनमें बोले जा रहे थे -

"भगवान् तो मेरा हाथ पकड़े हैं। वे मेरी ओर कैसे प्यारसे निहार रहे हैं? अहा ! मेरे प्रभुके नेत्रोंकी कैसी सुन्दर शोभा है ! शरदऋतुमें खिले कमलदलोंपर मानों मोतीकी चमक चढ़ायी हो। भगवान्‌के अंगोंपर इतना चमकीला वस्त्र है – मानो आकाशकी बिजली स्थिर होकर उस वस्त्रके रूपमें भगवान्‌के अंगोंमें लिपटी हो। अहा ! उनके हाथमें विराजित मुरलीके छिद्रोंसे बिना बजाये ही मधुर स्वरोंकी सुधा बह रही है। उनका सौन्दर्य मुझे नहला रहा है। मैं तो ऐसा पागल हो रहा हूँ, मुझे अपनी सुधि ही नहीं है। वेही मेरा हाथ पकड़े मुझे लिये जा रहे हैं। जहाँ ले जाना चाहें, ले जावें। अब मैं तो जा रहा हूँ।"

बोलते-बोलते शिवदयालुजीकी वाणी शान्त हो गयी। उनके आननमें दिव्य तेजका एक प्रकाश-सा मैंने देखा, मेरे दो आँसू ढलक आये थे। श्रीभाईजीने शिवदयालुजीका हाथ छोड़ दिया। मेरी ओर देखकर कहा – बाबा ! नाड़ी बन्द हो गयी। शिवदयालुजी भगवद्धाम गये।"

केडियाजी ! मैं भाईजीकी कृपाका चमत्कार देखकर गद्‌गद था। मन-ही-मन विचार कर रहा था – शिवदयालुजीके न-जाने कौनसे ऐसे महान् पुण्य थे, कि भाईजीके प्रति उनका झुकाव हुआ और उनसे ही इन्होंने अपनी परमार्थ-आशाके तार जोड़े। अन्यथा सैकड़ों-हजारों सत्संगियोंको यह पता है

कि भाईजी भगवत्प्राप्त महापुरुष हैं, कौन इनसे ऐसी आशा करता है कि भाईजी उसकी मृत्यु सुधार दें, भगवान्‌के दर्शन करा दें। धन्य है शिवदयालुजीके भाग्य ! जो इन्होंने भाईजी जैसे महापुरुषसे अपनी आशाके तार बाँधे।

केडियाजी ! मनुष्य धनसे सुखकी आशा करता है, राज्याधिकारसे युक्त किसी पदको प्राप्तकर अपनेको सुखी समझता है, योगीजन दीर्घावधियोंका तप करके उत्तम सिद्धियाँ प्राप्त करना चाहते हैं, कोई ज्ञानी होकर मुक्तिकी कामना करते हैं, परन्तु किसी सच्चेसन्तको पहचानकर मात्र आत्मीयतावश निस्साधन उससे भगवान्‌के दर्शनकी जीवनभर आशा रखना, बिरले व्यक्तिकी ही बात है। फिर सन्तोंकी ही अतिशय कृपालुता है कि वे जो भी उनसे आशा रखता है, उसकी आशा पूर्त्ति करते हैं। केड़ियाजी ! भाईजी तो इससे भी विलक्षण हैं। उनसे कोई किसी भी भावसे जुड़ जाय, वे तो उसे चाहे-अनचाहे भगवान् ही दान करते हैं। बिना माँगे मात्र अपनेसे किसी भी प्रकार जुड़े व्यक्तिको भगवान्‌के दर्शन करा देना, इतनी बड़ी उदारता है, जिसका कहीं उल्लेख ही शास्त्रोंमें नहीं है। अग्निसे कोई बिना आशा किये ही स्पर्शित हो जाता है, तो जैसे अग्नि उसे जला देती ही है इसी प्रकार श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) का अतिशय सौहार्द-सना वस्तुगुण भगवान्-जैसी अनमोल एवं दुर्लभतम वस्तुकी प्राप्ति, किसीको चाहने-न-चाहनेपर भी, उनके सम्पर्कमें आने मात्रसे ही करा देता है।

राधा राधा राधा राधा

प्रसंग - आठ (८)

# कर्मकाण्डी ब्राह्मण-देवतापर अनचाही कृपा

*प्रस्तुति :*

## प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*प्रेषिति :*

## श्रीशिवकुमारजी केडिया

*स्थान :*
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली
ग्राम, पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)
दिनांक : अज्ञात, अनुमानतः अप्रेल १९४१ ई.

*प्राप्ति-सूत्र :*
श्रीशिवकुमारजी केडियाके
पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि

एक समय था जब संस्कृत भाषाके प्रकाण्ड विद्वानोंकी बहुलताके कारण जयपुर नगरको लोग राजस्थानकी 'काशी' माना करते थे। इसी प्रकार रतनगढ़ ग्राम भी संस्कृत-विद्वानोंके कारण उन दिनों राजस्थानकी दूसरी 'काशी' माना जाता था। ग्राममें गौड़ ब्राह्मणोंकी प्रधानता थी और वे सभी दूर-दूर तक ख्याति-प्राप्त संस्कृतके सुपठित विद्वान् थे। इन ब्राह्मण विद्वानोंके घर में ही संस्कृत पाठशालाएँ होती थीं और सैकड़ोंकी संख्यामें ब्राह्मण ब्रह्मचारी इनके सान्निध्यमें संस्कृत व्याकरण, साहित्य, दर्शन, वेदान्त और वेदोंका अध्ययन किया करते थे।

ग्राममें धनी आस्तिक अग्रवाल वैश्य थे, जो प्रायः सभी ब्राह्मणसेवी थे। ये इन विद्यार्थियोंको छात्रवृत्तियाँ देते थे, जिससे ब्राह्मण बालकोंमें संस्कृत-पठनकी अतिशय रुचि रहती थी। संस्कृत-विद्यार्थियोंको लोग चावसे अपने घरोंमें ब्रह्मभोजोंमें आमंत्रित करते थे, जिसमें इन्हें भोजनके अतिरिक्त वस्त्र, ताम्रधातुके पात्र और पर्याप्त दक्षिणा भी मिलती थी। उन दिनों मुद्रा मूल्यवान् थी और वस्तुएँ बहुत सस्ती थीं। अतः एक संस्कृत-विद्यार्थी, ब्रह्मचारी होनेका समाजमें गौरव तो पाता ही था, पर्याप्त अर्थोपार्जन भी कर लेता था। इसीसे ब्राह्मणोंके बालकोंमें संस्कृत शिक्षा पानेका अतिशय चाव रहा करता था।

ग्राममें सर्वत्र संस्कृतके विद्वानोंका समादर था और वे श्रद्धासे सभी

वैश्य-घरोंमें प्रतिष्ठापूर्वक पूजे जाते थे।

भाईजीके परिवारमें भी उनकी दादीके समयसे एक सम्मान्य कर्मकाण्डी विद्वान् ब्राह्मण-देवता आया करते थे। वे सुदूर आसाम-बंगाल आदि प्रान्तोंमें भी, जहाँ इस ग्रामके वैश्य व्यापारी व्यापार हेतु गये हुए थे – यात्रा करते थे और वैदिक यज्ञ-यागादि करानेमें इनकी अतिशय ख्याति थी। इन्होंने गायत्रीके अनेक पुरश्चरण किये थे और इन्हें लोग सिद्ध-ज्योतिषी, साथ ही सफल अनुष्ठानकर्त्ता भी मानते थे।

इतने विद्वान्, धार्मिक, और वैदिक कर्मकाण्डके मर्मज्ञ होनेके उपरान्त भी इनकी वृत्ति धन बटोरनेमें ही लगी रहती थी और ये गृह-परिवार एवं बाल-बच्चोंके प्रति अति मोहासक्त थे। धनके साथ जैसा, कि शास्त्रोंमें लिखा है – पन्द्रह दोष आते ही हैं। यद्यपि इनकी ग्राममें प्रतिष्ठा थी, परन्तु इनके घरमें इनके बच्चोंमें परस्पर बहुत ही कलह रहती थी। इस गृह-कलहके कारण ब्राह्मण-देवता सदा अतिशय अशान्त रहते थे।

काल तो सबको ग्रास करता ही रहता है, चाहे कोई कितना ही बड़ा विद्वान् हो, धनवान् हो, मान-प्रतिष्ठायुक्त हो, चाहे अपठित, कंगाल, दरिद्र, और सबका उपेक्षा भाजन हो। राजा-रंक, धनी-दरिद्र, असामान्य-सामान्य, विद्वान्-मूर्ख, आचारी-अनाचारी, बलवान्-निर्बल, काल सबको बिना भेद किये एक दिन अपना ग्रास बना ही लेता है, सो पंडितजीपर भी उसने अपना एक दिन दाव आजमा ही लिया। मृत्युके समय पंडितजीने भाईजीको स्मरण किया। श्रीभाईजी उस समय मुझे (पू. श्रीचक्रधरजी महाराजको) भी अपने साथ ले गये थे। मृत्यु-शय्यामें पड़े पण्डितजीकी वृत्ति पूरी संसारमें उलझी थी। परिवार, धन, मकान, प्रतिष्ठा, सोना-चाँदी और बालबच्चोंको छोड़ते पंडितजीको बहुत ही कष्ट हो रहा था। पण्डितजीको तो यमदूत ले जाने आ ही गये थे, परन्तु पण्डितजीकी वृत्ति भगवान्में लगे इसकी उनके बच्चोंको सर्वथा चिन्ता नहीं थी। वे तो बारबार पण्डितजीसे अपना मनचाहा बँटवारा कर देनेका ही आग्रह कर रहे थे और पंडितजीने भाईजीको इसीलिये बुलाया भी था कि वे इन बच्चोंका व्यवहार-कुशलतासे समाधान कर दें। भाईजीसे वे यही चाहते थे कि भाईजी उन बच्चोंको उन सबके मनोनुकूल हिस्सा-पाँती बँटवारा कर दें। भाईजीकी उस समयकी व्यवहार-कुशलता देखकर, केड़ियाजी ! मैं तो दंग हो गया। भाईजीने रोषका उस समय ऐसा नाटक किया कि वे एकदम अग्निशर्मा ही बन गये। इतने जोरसे क्रोधमें भरे वे गरजे कि सभी परिवारके लोगोंकी सिट्टी-पिट्टी गुम हो गयी। केड़ियाजी ! भाईजीके पूरे शब्द तो मैं आपको बता नहीं सकता,

क्योंकि वे उस समय शुद्ध रतनगढ़ी मारवाड़ी भाषामें बोल रहे थे, परन्तु उनका कहनेका अर्थ इतना ही मुझे समझमें आया, जैसे वे कह रहें हों – "आप सभी अपने-घर मकानके अतिरिक्त मेरी हवेली और सावित्रीकी माँका गहना-कपड़ा भी बाँट लेना, परन्तु अभी तो कुत्तोंकी तरह मत झगड़ो, इस तरह हल्ला मत मचाओ। इन पंडितजीको मरने तो शान्तिसे दो।" और कहाँ एक क्षण पूर्व तो भाईजी क्रोधमें आग उगल रहे थे, बस, दूसरे ही क्षण उन पंडितजीके मस्तकपर हाथ रखकर वे उनके कानमें भगवन्नाम सुनाने लगे। जिस समय भाईजी पंडितजीको भगवन्नाम सुना रहे थे, उनकी योगस्थ अवस्था देखकर, मैं चकित हो गया। उनके नेत्रोंसे स्नेहकी विलक्षण धारा प्रवाहित हो रही थी। उनका सारा क्रोध न-जाने कहाँ चला गया था। पंडितजी भाईजीसे बहुत ही वयोवृद्ध थे। वे उनके परम सम्मान्य थे, परन्तु इस समय तो जैसे भाईजी उन पूज्य ब्राह्मण-देवताको माता-पिताके समान वात्सल्य प्रदान करनेवाले हो गये थे। मैंने देखा कि पंडितजीके मस्तकपर हाथ रखते ही और उनके कानमें मात्र दो-चार भगवन्नाम सुनाते ही पंडितजी जोरसे रुदन कर उठे। "भाईजी ! बहुत कृपा, बहुत बड़ी कृपा, परम शान्ति, अपार शान्ति।" फिर अपनी पत्नीसे कहने लगे – "इन्हें अपना यजमान-मात्र मत समझना, ये भगवान्‌से भी बढ़कर उनके परम भक्त, बहुत बड़े महापुरुष हैं" फिर अपने हाथ जोड़कर कहने लगे – "भाईजी, आपकी कृपासे मुझ महा-पापीको भगवान् लेने आ गये, अब जा रहा हूँ, प्रणाम । मैं तो नामका पंडित कहलाता था। असली पंडित तो आप हो।" और भाईजी उनके जुड़े हाथ हटाकर उनसे कह रहे थे – "मैं तो 'हनुमानिया' – आपका बालक हूँ । वही "मन्नू' हूँ। आशीर्वाद दीजिये। मेरी वृत्ति भगवान्‌में लगे। बोलिये 'हरे राम हरे राम राम राम हरे-हरे।' और 'हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण' कहते पंडितजीके प्राण-पखेरू उड़ गये।

**राधा राधा राधा राधा**

प्रसंग - नौ (९)

# युवक डॉक्टरपर कृपा

*प्रस्तुति :*

## प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*प्रेषिति :*

## श्रीशिवकुमारजी केडिया

स्थान :
भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली
ग्राम. पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)
दिनांक : अनुमानतः अप्रेल १९४१ ई.

प्राप्तिसूत्र :
श्रीशिवकुमारजी केड़ियाके
पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि

## आलोक

*इस घटनाका उल्लेख पू. श्रीराधाबाबाने ३३ वर्ष पश्चात् सन् १९७४ ई. में श्रीबालकृष्णजी महाराजके सम्मुख किया था। भाई श्रीराधेश्यामजी बंकाने अपनी 'वाटिका-वेणु' नामक पुस्तकमें इस प्रसंगका उल्लेख किया है। परन्तु केड़ियाजीके इस पत्र और 'वाटिका-वेणु' नामक पुस्तकमें उल्लिखित घटनामें बहुत अन्तर है।*

*इसमें अनेक कारण हो सकते हैं। श्रीकेड़ियाजीको इस घटनाकी सब बातें पू. राधाबाबा द्वारा ही लिखकर दी गयी थीं। इस घटनाका उल्लेख श्रीराधाबाबाने मेरे सम्मुख भी सन् १९५१-५२ में किया था, वह उल्लेख पूरा इस पत्रसे मिलता-जुलता है। दूसरे इस घटनाके मुख्य पात्र रतनगढ़के डाक्टर भार्गवसे मेरा भी व्यक्तिगत सम्बन्ध अति आन्तरिक रहा है। काष्ठमौनके पश्चात् रतनगढ़में पू. राधाबाबा १९५८ में डाक्टर भार्गवसे ही सर्वप्रथम मुखर हुए थे। तब मैं एवं श्रीमाधवशरणजी श्रीबास्तव दोनोंने डाक्टर साहबसे घण्टों वार्त्ता की थी। उस समय उन्होंने, यह घटना उनके ही साथ घटित हुई है, ऐसा हम दोनोंके सम्मुख स्वीकार किया था। उनका जो भी वर्णन था, वह भी हू-बहू इस पत्रसे मिलता-जुलता है।*

*अतः संभव है, पू. श्रीराधाबाबाने श्रीमहाराजजीसे जो वर्णन ३३ वर्ष*

*पश्चात् किया, वह या तो जानकर कुछ हेर-फेरसे किया हो, अथवा उसमें उनकी स्मृतिमें भिन्नता रही हो। पाठकवर्गके सम्मुख सही स्थिति रखना कर्त्तव्य समझकर यह स्पष्टीकरण दिया गया है।*

**साधुकृष्णप्रेम**

---

एक डॉक्टर नये-नये रतनगढ़में आये थे। वे युवक थे। ग्रामके सभी युवकोंमें उन दिनों 'भाईजी' बहुत ही लोक-प्रिय थे। इस लोक-प्रियताके पीछे भाईजीका निस्वार्थ लोक-सेवामय व्यवहार एवं उनकी सबके प्रति प्रकट होनेवाली अलौकिक आत्मीयता ही हेतु थी। रतनगढ़में राजकीय अस्पतालमें वे नये-नये नियुक्त होकर आये थे। एक दिवस वे सायंकालको भाईजीसे मिलने उनकी हवेलीमें चले आये।

प्रथम मिलनमें ही श्रीभाईजी (हनुमानप्रसादजी पोद्दार) ने उन्हें अतिशय आत्मीयतासे नहला दिया। मानों वे जैसे उनके परिवारके ही सदस्य हों – इस प्रकार उनको तत्क्षण ही भाईजीने अपने एवं अपने परिवारका पारिवारिक डाक्टर (Family Doctor) तो नियुक्त कर ही लिया, साथ ही अनेक सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित परिवारोंमें जहाँ श्रीभाईजीके प्रति अधिक सद्भावना थी, वहाँ भी उनको पारिवारिक डॉक्टर बना लेनेके लिये उन्होंने प्रशंसा-पत्र लिख दिये। भाईजी द्वारा विश्वास व्यक्त कर देनेके कारण अनेक सम्भ्रान्त परिवारोंकी पारिवारिक सँभाल डाक्टरके जिम्मे आ गयी, एवं ग्राममें डाक्टर साहबकी इज्जत हो गयी। वैसे वे अपने पेशेमें कुशल थे। अतः उन्होंने कुछ ही दिनोंमें सर्वत्र लोकप्रियता अर्जित कर ली। उनके हाथमें यश भी था अतः डाक्टर-युवक सभी मारवाड़ी परिवारोंमें बुलाये जाने लगे।

वैसे डाक्टर महोदय सच्चे चरित्रवान् थे, परन्तु आध्यात्मिक पृष्ठभूमि न होने एवं नवयुवक होनेके कारण वे स्त्रियोंके अंग-स्पर्श करते (नाड़ी आदि देखने के हेतुसे) तो उन्हें काम-विकार हो आता था। डाक्टरको तो जाँचके लिये आँख, नाड़ी, पेट, कमर, सभी स्पर्श करने पड़ते ही हैं। डाक्टर साहब जब युवती बहू-बेटियोंके अंग-स्पर्श करते, तो वे विकार-ग्रस्त एवं चंचल हो उठते।

एक दिवस, वे डाक्टर मेरे (पू. स्वामी श्रीचक्रधरजीके) पास मिलने चले आये, उन्होंने मुझसे एकान्तमें अकेले ही मिलने एवं वार्त्ताका समय चाहा। मैंने उनको सायंकाल उनकी सुविधानुसार किसी समय भी आनेको कह दिया।

सायंकाल लगभग पाँच बजे डाक्टर साहब मेरे पास आये। डाक्टरने अपनी समग्र मनोदशा निश्छल होकर मेरे सम्मुख रख दी। डाक्टरका अभीतक

विवाह भी नहीं हुआ था। वह बहुत ही सरल, सीधा एवं सच्चरित्र युवक था। वैसे उसका जीवन अबतक पवित्र रहा था, परन्तु उसे अपने व्यवसायकी दृष्टिसे स्त्री-शरीर संस्पर्श करना ही पड़ता था। स्पर्शके समय बहुत संयम रखनेपर भी वह विकृत एवं चंचल हो उठता था।

जिस निश्छलतासे उसने सब बातें मुझे बतायीं, उसी निश्छलतासे मैंने उसे सभी बातें श्रीभाईजीको भी कह देनेकी बात कही। वह भाईजीसे कहनेमें बहुत ही संकोच अनुभव कर रहा था। वह मुझसे कहने लगा कि "भाईजीने मुझपर बहुत विश्वास किया है, यदि मैंने सब बातें भाईजीके सम्मुख खोलकर रखदीं और उन्होंने सम्भ्रान्त परिवारोंमें किसीसे भी यह बात प्रकट कर दी, तो मेरी रतनगढ़में फिर प्रैक्टिस ही उखड़ जायेगी। बाबा ! भाईजीके सम्मुख मुझे मत भेजिये।" मैंने उसे समझाया कि "जब श्रीभाईजीने तुम्हे पहली भेंटमें ही इतना विश्वास और स्नेह दिया है, तो तुम्हें उनके सामने निश्छलतापूर्वक सब बात रख देनी ही चाहिये; चाहे तुम्हारी प्रैक्टिस उखड़े या जमे, तुम्हें भाईजी जैसे सन्तसे विश्वासघात कदापि नहीं करना चाहिये। तुम भगवान्‌के सम्मुख तो सच्चे रहोगे कि मैं जो था, जैसा था, भाईजीके सम्मुख आईनेकी तरह स्पष्ट था, भाईजी जैसे सिद्ध-भक्त सन्तसे तुमने कुछ भी दुराव-छिपाव नहीं किया। उनसे विश्वासघात करके अपनी प्रेक्टिस जमानेमें मुझे तो तुम्हारा न तो पारमार्थिक एवं न ही लौकिक – किसी भी प्रकारका हित समझमें आता है।"

मेरी बात डाक्टरको जँच गयी। वह मेरे पास से सीधा भाईजीके पास चला गया। भाईजीके सम्मुख जैसे मैंने उसे समझाया था, उसने ठीक वैसे ही स्पष्ट अपनी स्थिति रख दी। भाईजी तो उससे, ये बातें सुनते ही एकदम क्रोधमें भर गये। उन्होंने क्रोधमें भरकर उस डाक्टरको तुरन्त अपने पाससे चले जानेको कहा, और कहा कि "आगेसे मुझे मुख नहीं दिखावें। मैंने आपको सच्चरित्र समझकर, विश्वास करके बहू-बेटियों वाले इज्जतदार घरोंमें भेजा था, मुझे आपसे यह आशा नहीं थी।"

भाईजीके क्रोधसे डाक्टरकी दशा तो ऐसी हो गयी कि वह यदि अवसर पा जाए तो जमीनमें ही समा जाये। उसका तन पसीने-पसीने हो गया। उसके मुखसे बस, इतनी सी बात निकली – "भाईजी ! क्षमा करिये, आजसे मैं आपके अथवा ग्राममें किसी भी सम्भ्रान्त परिवारके घर प्रेक्टिस करने नहीं जाऊँगा।" यह कहकर वह उठकर ज्योंही जाने लगा, भाईजी कुछ द्रवित हुए। उन्होंने कहा – "डाक्टर साहब ! आप मेरे बालक हैं, इसलिये मैं अपना समझकर आपपर उत्तेजित हो गया था। देखिये ! अभी तो मैं किसी परमावश्यक कार्यमें

व्यस्त हूँ। आप कल सायंकाल इसी समय मेरे पास अवश्य आइयेगा। मेरे स्वभावमें यह दोष है कि मैं अपने जनोंपर कभी-कभी इस प्रकार उत्तेजित एवं क्रोधित हो उठता हूँ।''

डाक्टर नीचा मुख करके उठकर बाहर आ गया और मेरे पास आकर वह फफक कर रोने लगा। मैंने उसे धैर्य बँधाया; कहा कि ''आपपर निश्चय ही भगवत्कृपाकी वर्षा हुई है। आप निश्चय ही मेरी बात मान लीजिये कि भाईजीका यह रोष आपका अनन्त मंगल करेगा।'' डाक्टरको ढाढ़स बँधाकर मैंने उसे विदा किया।

दूसरे दिवस डाक्टर सायंकाल उसी समय मेरे पास आया और मुझे प्रणामकर भाईजीके कमरेमें चला गया। उसने जैसे ही भाईजीके कमरेमें प्रवेश होनेके लिये परदा उठाया, उसके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। उसने स्पष्ट खुली-आँखोंसे देखा कि भाईजीकी डेस्कके एक कोनेकी ओर कैशोर अवस्थाके भगवान् श्रीकृष्ण मयूर-मुकुट धारण किये बैठे हैं और झुककर वह सब पढ़ रहे हैं, जो भाईजी लिख रहे हैं। इस प्रकारका एक चित्र श्रीसूरदासजीके संदर्भमें 'कल्याण' पत्रिकामें कुछ दिन पूर्व छप भी चुका था। इस छपे चित्रमें अंधे सूरदासजी 'इकतारा' नामक वाद्य बजाकर भजन गा रहे हैं और श्रीकृष्ण बैठे उनका गायन अति तन्मयतापूर्वक सुन रहे हैं।

उस डाक्टरने ठीक उसी छपे चित्रकी तरह जब भाईजीके सम्मुख भगवान्को बैठे देखा, तो एक बार तो उसे ऐसा लगा कि मानो उसे मस्तिष्कगत भ्रम हो रहा है। वह कमरेसे बाहर आया, उसने पास ही रखी पानीकी टंकीसे अपना मुख धोया, फिर श्रीभाईजीके कक्षमें पुनः झाँक लगायी। पुनः इसी प्रकार भगवान्को बैठे देखकर डाक्टर घबड़ा गया। बाहर आकर उसने पुनः अपनी जेबसे एक खौंसी पिन निकाली और अपने शरीरमें चुभोकर पुनः भाईजीके कमरेमें झाँका। उसे पुनः भगवान्की वही छवि दृष्टिगोचर हुई। अब डाक्टर एकदम भावाभिभूत हो उठा। वह दौड़ा-दौड़ा मेरे कमरेमें आ गया। उसे होश नहीं था। वह मात्र इतना ही बोल रहा था – ''बाबा ! दिख गये। बाबा ! निहाल हो गया । बाबा ! भगवान्के दर्शन हो गये।'' वह मुझसे लिपट गया, उसका शरीर पसीनेसे लथपथ था। उसकी आँखोंसे आँसू बह रहे थे। उसके मुखसे वाणी नहीं निकल रही थी। रोते-रोते हिचकी बँध गयी थी। मैं उसके मस्तकपर हाथ फेर रहा था, इतनेमें ही हँसते-हँसते भाईजी भी मेरे कमरेमें चले आये। डाक्टर तो भाईजीको देखते ही मुझे छोड़कर उनसे लिपट गया। वह तो एक ही शब्द रट रहा था – ''भाईजी ! आपको पहचान नहीं पाया, क्षमा कर दीजिये।

न जाने मेरा कौन महाभाग्य था कि आपके दर्शनोंका अवसर मिला। मुझ अधमको क्षमा कर दीजिये। आपने तो मुझे निहाल कर दिया।"

मैंने देखा, भाईजीके अश्रु भी स्नेहसे छल-छला आये थे। उन्होंने डाक्टरका मस्तक अपनी गोदमें रख लिया था। वे उसके मस्तक पर हाथ फेर रहे थे। कुछ देर पश्चात् डॉक्टर स्वस्थ-चित्त हुआ। वह उठकर बैठ गया।

उस दिवसके पश्चात डाक्टरको पाँचवर्षतक कभी काम-विकार नहीं हुआ। पाँचवर्षके पश्चात् भाईजीने ही उसका विवाह किसी पवित्र बालिकासे करवा दिया।

राधा राधा राधा राधा

प्रसंग - दस (१०)

# नगर-सेठपर कृपा

*प्रस्तुति :*

## प. पू. स्वामी श्रीचक्रधरजी महाराज

*प्रेषिति :*

## श्रीशिवकुमारजी केडिया

*स्थान :*
**भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी हवेली**
**ग्राम. पो. रतनगढ़ (बीकानेर राज्य)**
**दिनांक निश्चित तिथि अज्ञात**
**संभावित अप्रेल १९४१ ई.**

*प्राप्तिसूत्र :*
**श्रीशिवकुमारजी केडियाके**
**पत्र-संग्रहकी प्रतिलिपि**

केडियाजी ! एक नगर-सेठ थे। उनका नाम उल्लेख करना उचित नहीं है। उनके पास अपार धन था। चाँदी-सोनेकी शिलाओंसे उनके तहखाने भरे रहते थे। तहखानोंकी चाभी सेठजी अपने पास ही रखते थे। सेठजी वैसे बहुत दानी, यशस्वी थे। अनेक नगरोंमें उनके द्वारा निर्मित कराये मन्दिर थे। अनेक माध्यमिक विद्यालय, पुस्तकालय, दातव्य औषधालय, धर्मशालाएँ, स्थान-स्थान पर पानीकी प्याऊ, सभी तीर्थोंमें साधु-महात्माओंके लिये अन्नक्षेत्र – उनके पुण्यकार्योंकी गिनती नहीं थी। उनके द्वारा देवकर्म, पितृकर्म, जप, पुरश्चरण, यज्ञ, पुराण-पाठ, कूप-तालाबोंका निर्माण, सभी उत्तम कर्म प्रायः होते ही रहते थे। सेठजीके घरसे कोई दरिद्र, खाली हाथ कभी वापस नहीं आता था। उनका यशोगान सर्वत्र ही होता रहता था।

यद्यपि सेठजी ये सभी उत्तम कर्म निरन्तर करते रहते थे, किन्तु उनके सभी कर्म होते थे अपनी यश-लिप्सा और पुण्यलाभके लिये ही। अतः ये सभी कर्म उन्हें बन्धनसे मुक्त करनेवाले नहीं होकर उनका शरीराध्यासरूप बन्धन सुदृढ़ करनेवाले ही थे। भगवान् श्रीकृष्णने **''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज''** वाक्य ऐसे ही धर्मोंके सम्बन्धमें कहा है। मनुष्यकी यश-लिप्सा ही भ्रमवश ऐसे कर्मोंको महत्व दिलाती है। इनसे हमारे अहंकारको ही पोषण प्राप्त होता है और सारकी वस्तु कुछ भी प्राप्त नहीं होती।

यह सब कहनेका इतना ही अर्थ है कि सेठजीके पास धन था ही और साथ ही धन-सम्पत्तिका नशा भी था। किसीके पास कितना ही धन हो, शरीरकी गति तो जो होनी है, वही होती है। चाहे कोई जगत्में पैसेके बलसे भूदेव, नरदेव, सेठ (श्रेष्ठ), नगरश्रेष्ठ – कुछ भी कहला ले, धन-प्राप्तिकी आशामें चाटुकारलोग धनियोंके लिये भले कितने ही विशेषण लगा दें, उनके शरीरकी तो जो गति होनी होती है, वही होती है। नगर-सेठजीके पास अपार संपत्ति होनेपर भी उन्हें ऐसा भीषण रोग हुआ कि जिससे उनके शरीरमें कीड़े पड़ गये। सेठजीके शरीरसे मवादका प्रवाह बहता था, और वह इतना दुर्गन्धयुक्त होता था कि उनके बहू-बेटे भी उनकी सेवाके लिये उनके पास घृणावश कभी नहीं आते थे। बच्चोंने पैसे होनेके कारण जर्मनीसे एक प्रसिद्ध डाक्टर और नर्सको पाँच हजार रुपया प्रति दिवसके पारिश्रमिकपर उनकी सेवामें नियुक्त कर दिया था। बच्चे बापको पूछते ही नहीं थे। सेठजीको अपने बेटे-बहूपर बहुत ही रोष था, परन्तु उनके उस रोषकी उनके पुत्र एवं पुत्रवधूको कुछ भी परवाह नहीं थी। उन्होंने डाक्टरोंको नियुक्त करके अपने कर्त्तव्योंकी इति समझ ली थी। वे इतने अधिक पैसेवाले और प्रतिष्ठित थे कि उन्हें कोई समझा भी नहीं सकता था। बहुत काल तक सेठजीने इस भीषण रोगका कष्ट सहा।

भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) तो ग्राममें सबके अकारण-हितू और आत्मीय थे ही। उनका सबसे उत्तम स्वभाव यही माना जाता था कि चाहे कोई अति दूरका ही परिचित हो, कष्टके समय भाईजी सान्त्वना देने या उसे भगवान्में लगाने अथवा कुछ सेवा करने-कराने पहुँच ही जाते थे। केड़ियाजी! भाईजी की दृष्टि इतनी पवित्र एवं सम है कि उन्हें तो चाहे कोई नारकीय कीड़ा हो, कोई अति सूक्ष्मदर्शी तत्वज्ञ सन्त हो, सभी समान भगवद्रूप ही दृष्टिगोचर होते हैं। भाईजी सब जीवोंको गुण-निरपेक्ष, ज्ञान-निरपेक्ष और भक्ति-निरपेक्ष प्रेम करते हैं। उन्हें किसीसे कुछ आशा तो है नहीं, उन्हें तो सबको भगवद्भाव वितरित करना है, सो वे उसे सर्वत्र सभीमें वितरित करने – जहाँ भी ममत्व देखते हैं, पहुँचते ही हैं। भाईजी, अपने सीधे, सरल स्वभाववश सेठजीकी हवेली नित्य ही पहुँच जाते। वे उन्हें भगवान्‌की सर्वत्र समरूपसे स्थितिके सम्बन्धमें अपने अनुभव बताते और उनसे निरन्तर भगवान्‌को अपने पास ही अनुभव करते रहनेकी बात कहते। सेठजी भाईजीकी बात तो सुन लेते, परन्तु उनका मन यह चाहता था कि हवेलीमें जो नीचे तहखानोंमें सोने-चाँदीकी सिलें रखीं हैं, वे सिलें उनकी धर्मपत्नीको ही मिलें, यह धन उसके जीवनकालमें उसका ही रहे, उसे उनके पुत्र-पुत्रवधू उसके जीवनकालमें छू भी नहीं सकें। सेठजी चाहते थे

कि भाईजी इस बातका पुख्ता विश्वास उनको दिला दें और ग्रामके धनी-मानी पंचोंको मध्यस्थ बनाकर, ऐसा कोई विश्वस्त सुरक्षा-कवच निर्माण कर दें, जिससे उनका पुत्र इस धनपर अधिकार नहीं कर पावे।

श्रीसेठजीके इकलौता एक ही पुत्र था, सो पहले तो उसे पिताकी सम्पत्तिसे भाईजी कैसे वंचित करते ? दूसरे सेठजीका पुत्र वैसे सब बातोंमें तो सेठजीकी रुचिसे क़ार्य करनेवाला, आज्ञाकारी था, परन्तु इस दर्दनाक बीमारीमें वह अपने शरीरसे पिताकी सुश्रूषा नहीं कर पा रहा था, यह उसकी कमजोरी एवं विवशता ही थी। इस विवशताका एक कारण यह भी था कि उसे एवं उसकी पत्नीको यह भय था कि कहीं यह बीमारी छूतकी नहीं हो, और पिताके पास आने-जानेसे वे स्वयं या उनके बच्चे इस भीषण रोगसे ग्रस्त नहीं हो जावें। किसी भी व्यक्तिको परिवारमें जब गलित-कुष्ठ हो जाता है, तो भगवद्विश्वासी आस्तिक बच्चे भी गलित कुष्ठवाले सम्बन्धीको घरसे हटा देते हैं। यह मानव की स्वभावगत स्वाभाविक कमजोरी है, जिसके वशीभूत उनके पुत्र एवं पुत्रवधू अपने पिताकी शारीरिक सेवा नहीं कर रहे थे। इन स्वाभाविक कमजोरियोंके कारण इकलौते एकमात्र पुत्रको पिताकी संपत्तिसे वंचित कर दिया जाय और माँ-बेटेके विश्वास और वात्सल्यके मध्य धनके कारण रागद्वेषमूलक कोई व्यवधान खड़ा हो, भाईजीको यह सर्वथा रुचिकर नहीं था। अतः भाईजी इस विषयमें सेठजीकी बात सुनी-अनसुनी कर दे रहे थे और चाहते थे कि सेठजी धनके महत्वको हृदयसे सर्वथा निकाल दें, साथ ही यदि कोई उनकी इस दर्दनाक बीमारीमें सेवा नहीं कर पा रहा है, तो उसे क्षमा कर दें। धन तो सबको मात्र उसके प्रारब्धवश ही मिलता है। किसीको धनसे वंचित करना अथवा धन दिलाना, दोनों कार्य जगन्नियन्ता भगवान् ही करते हैं। ऐसे समयमें जब कराल-काल मुख खोले सम्मुख खड़ा है, किसीसे भी प्रतिशोध लेनेकी इच्छा करना नरकोंमें ले जानेवाली चेष्टा है। ऐसे समयमें तो सबको हेतुरहित रूपसे क्षमाकर भगवान्में ही अपना चित्त लगाना उचित है। जगत्में न तो कोई अपना है, न ही कोई पराया है। यदि कभी किसीसे कोई अनुकूल-प्रतिकूल आचरण हो भी जाते हैं, तो वह स्वयं ही बंधनोंसे बँधा-जकड़ा अपनी अच्छी-बुरी प्रकृतिका दास है। अतः उसे किसी भी दोष एवं अपराधका कर्त्ता नहीं समझते हुए किसीभी होनेवाली अवश्यंभावी प्रतिकूल घटनामें मात्र निमित्त समझ, क्षमा कर देना ही उचित है। वास्तवमें विश्वमें जो कुछ, जहाँ भी घटित हो रहा है, वह तो मात्र विश्वनियन्ताके विधानसे ही हो रहा है। विश्वनियंताकी इच्छाके बिना तो एक पत्ता भी हिल नहीं सकता। विश्वनियन्ताकी रुचिके बिना जब

पलक भी कोई नहीं गिरा सकता, तो किसीको किसी अप्रिय एवं प्रतिकूल घटनाका कर्त्ता मान लेना तो अपना ही अज्ञान है।

भाईजी इसीलिये पिताके मनसे पुत्रके प्रति उत्पन्न हुआ द्वेष सर्वथा मिटा देना चाहते थे। वे सेठजीको बारबार अनवरत यही समझानेकी चेष्टा करते थे कि "इस संसारमें सुखका लेश भी नहीं है। किसीसे भी अपनी सुख-सेवाकी आशा करना मात्र दुराशा है। यह संसार तो मात्र स्वार्थोंका टकराव-भर है। **"अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्"** यह संसार अनित्य है, दुःखालय है, इसमें सुख है ही नहीं। यदि सुख-प्राप्तिकी इच्छा है, तो मेरा भजन करो – भगवान्‌के ये वचन न तो मिथ्या हुए हैं, न ही कभी होवेंगे। सुखकी आशामें जीवनको बरबाद करना बड़ी भारी भूल है। और जीवनके अन्तिम दिनोंमें जब मृत्यु मुख खोले खड़ी है, इससे दूसरी कोई बड़ी भूल हो भी नहीं सकती।"

केडियाजी ! भाईजी सेठजीको बार-बार समझाते कि "कोई भी जिसे वास्तविक सुखकी इच्छा है, उसे भगवान्‌का भजन करना ही होगा। इसके बिना अन्य कोई चारा ही नहीं है। पीलियेके रोगीको संसार पीला ही दृष्टिगोचर होता है। उसे मिश्री जो शुभ्र, स्वच्छ होती है, पीली दिखती है, परन्तु वह रोगी है, उसकी दृष्टि शुद्ध कदापि नहीं है। अतः अब अन्तिम कालमें उन्हें सगे-सम्बन्धी, पुत्र-पुत्री, शत्रु-मित्र, अपने-पराये, अच्छे-बुरे, सबमें मात्र भगवान्‌को ही भरा देखना चाहिये। उन्हें इस भीषण रोगके रूपमें भी भगवान्‌की ही कृपाको देखना चाहिये। अन्यथा, यदि भीषण रोगके रूपमें भगवान् नहीं आते, तो सेठजी ! आपकी राग-द्वेषमयी दृष्टिके सुधरनेका कोई उपाय ही नहीं था।"

श्रीभाईजी जैसे ही सेठजीसे कोई उनका सम्बन्धी मिलने आता, सेठजीको चेताते – "सेठजी ! श्रीकृष्ण ही व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दोनों प्रकारके सत्य हैं। अतः इन सब मिलनेवालोंके रूपमें वे ही अनेक रूप धारणकर आपके सम्मुख आ रहे हैं। अतः सबमें पूरी सावधानी रखते हुए, उन्हें ही देखिये, उनसे ही मिलिये। देखिये ! अन्य कोई नहीं है, मात्र भगवान् ही सर्वत्र भरे हैं, अतः इस विषयमें इस समय बहुत सावधान रहें। ऐसा सुन्दर मानव-जीवन कहीं व्यर्थमें नहीं चला जाय। परिवारको देखकर, सम्बन्धियोंको अपना मानकर, भगवान्‌को कहीं भूल मत जाइयेगा। यह वास्तवमें ही हीरेको फेंककर कंकर बटोरनेके समान ही है। न जाने हम कितने ही सम्बन्धियोंको पिछले अनन्त जन्मोंमें छोड़ आये हैं। उनमें अपनापन करने एवं भगवान्‌की विस्मृतिसे ही हमें बार-बार गर्भका कष्ट हुआ है। अतः इस बार मृत्यु सुधार लीजिये। सबमें भगवान्‌को ही भरा देखिये।"

सेठजी भाईजीकी बातें कानसे सुनते अवश्य थे, परन्तु उनके हृदयमें घना राग-द्वेष ठूँस-ठूँसकर भरा था। सत्संगकी बातें हृदयमें जमती नहीं थीं। सुननेके उपरान्त भी भाईजीकी बातें उनके द्वारा धारण नहीं होती थीं। वे सब मिलनेवालों से यही कहते थे कि "उनका पुत्र नालायक है। मृत्युके पश्चात् वह मेरा दाह-संस्कार भी नहीं करे। मेरे शरीरको उसे स्पर्श करने नहीं दिया जाय।"

सेठजीमें संकल्पकी ऐसी दृढ़ता नहीं थी कि वे पुत्रके प्रति उनके हृदयमें उत्पन्न हुए राग-द्वेषको त्यागकर उसमें भगवान्‌को भरा देख सकें। जो हो, काल तो किसीकी प्रतीक्षा करता नहीं है; यथासमय सेठजीकी मृत्यु हुई। केड़ियाजी ! भाईजीकी कैसी दयालुता थी। मृत्युके समय वे मुझे भी ले गये और इस संकल्पके साथ मुझे उन्होंने साथ लिया कि सेठजीको किसी-न-किसी प्रकार अन्तिम समय भगवच्चिन्तन होना ही चाहिये। भाईजी जैसे कृपालु सन्तकी सद्‌भावना भला भगवान् मिथ्या कैसे करते ? यद्यपि अन्तिम समय तक जबकि उनकी नाड़ी छूट रही थी, सेठजी पुत्रके प्रति रोष और उनका सारा धन-वैभव पुत्रको मिल जानेकी ग्लानिसे पूरे आक्रान्त थे, फिर भी अन्तिम समय भाईजीकी हेतुरहित कृपा विजयी हो ही गयी। सेठजीके अन्तिम प्रयाणके समय भाईजी जोरसे उनके कानोंमें मुख लगाकर बोले – "सेठजी ! भगवान् आयग्या है। सामने खड़ा है। आप देख रहे हैं न ?" सेठजीकी स्वीकृतिमें गरदन हिल ही गयी। "अब अपना सब धन भगवान्‌को सौंप दीजिये" भाईजी बहुत जोर देकर बोले। सेठजीकी मुट्‌ठीमें अबतक जो तिजोरी और तहखानेकी चाभियाँ जोर लगाकर पकड़ी हुई थीं, छूट गयीं। भाईजी पुनः बोले – "वाह ! भगवान्‌के चरणोंमें लक्ष्मीजी समर्पित हो गयीं। भगवान् प्रसन्न हैं। अब उनके चरणोंकी पूजा करिये।" सेठजीने भाईजीके हाथसे दो फूल लेकर ठीक भगवान्‌के चरणोंमें चढानेका भाव दिखाया। और उनकी गरदन भगवान्‌के चरणोंमें ही लुढ़क गयी।

भाईजी पुनः जोरसे सभी सम्बन्धियोंको जो वहाँ सेठजीको घेरे खड़े थे, सम्बोधित कर बोले – "सेठजीने अपना मानव-जन्म सफल कर लिया। उनकी मृत्यु भगवान्‌का दर्शन करते हुए, उनके चरणोंमें हुई है।"

सारा जनसमुदाय इस भाईजीके चमत्कारको देखता हुआ विस्मित था। भाईजीके नेत्र भी भगवान्‌का अपने प्रति वात्सल्य देखकर छलक आये थे। उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा और अति वात्सल्यसे कहा – "बाबा ! अब चलें, अपना काम हो गया।" मैं तो भक्तराज हनुमानप्रसादजीकी मन-ही-मन जय कहता हुआ उनके पीछे अनुगत हुआ चल पड़ा ।

**राधा राधा राधा राधा**